विशोधनिका
(द्वितीय प्रकरण)

गोस्वामी श्याममनोहर

प्रकाशक–प्राप्तिस्थल :
गोस्वामी श्याममनोहर
६३, स्वस्तिक सोसायटी,
४था रास्ता, जुहु स्कीम,
पारले, मुंबई–४०००५६.

'अडैल', महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य मार्ग,
नया शहर, किशनगढ़, जि. अजमेर,
राजस्थान – ३०५८०२.
प्रति : १०००.

प्रकाशनवर्ष : वि.सं.२०४९.
मुद्रक :
प्रॉस्पॅक्ट प्रिन्टींग प्रेस
पोर्टुगीझ चर्च, दादर,
मुम्बई – ४०००२८.

निःशुल्कवितरणार्थ

प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशनमें मुद्रणकार्यमें सहयोगी : श्रीअसित शाह, श्रीमनीष बाराई, श्रीरसिक शाह, श्रीविपुल बाराई

तथा

प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोगी : अनेक वैष्णव भगवदीयोंका
हम हृदयसे आभार मानते हैं.

समर्पण

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके वचन उनके दोनों आत्मजोंके वचन तथा
इनके उपजीव्य शास्त्रोंके भी वचनोंके आधारपर ही पुष्टिमार्गियोंके
वास्तविक स्वधर्मका स्वरूप निर्धारित हो सकता है.
सार्वजनिक मन्दिरोंमें धन फेंककर दर्शन–प्रसादको खरीदनेकी शोखीन
निष्ठाविहीन जनतासे प्रीति रखनेवाले स्वार्थलिप्त पू.पा.गो.म.श्रीओंके
वचन या व्यवहार प्रमाण नहीं होते. न आधुनिक धर्मनिरपेक्ष
कानूनकी भीति रखकर अपनी लक्ष्मीकी रक्षाके मोहमें नारायणको
त्यागनेवालोंके वचन या व्यवहार को ही पुष्टिमार्गियोंके स्वधर्मके
स्वरूपनिर्धारणार्थ प्रमाण माना जा सकता है.
पुष्टिमार्गियोंके धर्मका वास्तविक स्वरूप आचार्यवचनोंद्वारा ही निर्धारित
किया जा सकता है. स्वमार्गमें उभरी इन विसंगतिओंके बीच
स्वसिद्धान्तसंरक्षणके प्रयासको –''अति धन्यवादार्ह है कि
आपने इतनी मेहनत करके सम्प्रदायके सिद्धान्तनकूं कॉर्टमें समझाये''
(दि.२६–१०–८६को मुझे भेजे गये पत्रमें) तथा ''हमारा इसमें
पूरा सहयोग होगा, तनमनधनसे...हमारे सभी चि.बालक इस कार्यमें
सहयोग करनेको तैयार हैं'' (दि.७–११–८६को मुझे भेजे गये पत्रमें)
इन वचनोंसे प्रोत्साहित करनेवाले नि.ली.श्रीव्रजभूषणलालजी
काकाजीके
प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञताको अभिव्यक्त करने
यह द्वितीय प्रकरण उन्हें समर्पित करता हूं.
मेरा दृढ विश्वास है कि नि.ली.काकाजीकी ही अन्तःप्रेरणा थी कि
उनके आत्मज चि.हरिरायजी पुष्टिसिद्धान्तोंके प्रतिपक्षी बनकर आनेके
बावजूद पक्षग्रहणप्रसंगमें:
पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवास्थल स्वगृह ही होता है तथा
ट्रस्टएक्टके अनुसार भगवत्सेवार्थ धन मांग कर आजीविका

चलानेवाला जघन्य कोटिका देवलक होता है
– इन दो मुख्य मुद्दोंको कबूल कर बैठे थे.
अत्र शास्त्रं प्रमाणं स्यात् नैव वित्तस्य लालसा।
*नच संख्याक्रमो(**A/317** जामनगर)दुष्टः पब्लिक्ट्रस्टरजिस्टरे।।*

गोस्वामी श्याममनोहर

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

आमुख

विशोधनिकाके इस द्वितीय परिच्छेदमें आलोचनाक्रमसे उपक्रम, ब्राह्मणत्व, वैदिक गुरुत्व, तान्त्रिक गुरुत्व, साम्प्रदायिक गुरुत्व तथा उपसंहार के विभागशः विषयनिरूपण हुआ है. आलोच्य विषय, वैसे, दो ही हैं कि देवद्रव्यका स्वरूप क्या और देवलकवृत्ति क्या और कैसे होती है ?

विशोधनिकाके प्रथम परिच्छेदके आमुखमें मैंने जिन आशंकाओंको प्रकट किया था उनका निराकरण इस आमुख लिखनेकी क्षण तक तो विमर्शकारने व्यक्तिशः मुझे अथवा 'वैष्णववाणी'मासिकमें भी दिया नहीं है, जबकि उसमें उक्त विमर्श ग्रन्थका संशोधित-परिवर्धित गुर्जरभाषानुवाद प्रकाशित करवाया जा रहा है. लगता है- या तो लंबी प्रतीक्षा करनी पडेगी या फिर अप्रतिषिद्धम् अनुमतम् भी कदाचित् हो सकता है ! अस्तु.

देवद्रव्य

वैसे 'देवद्रव्य'का अर्थ होता है ऐसा द्रव्य कि जिसपर लौकिक स्वामित्व किसी देवमूर्तिका हो. देवमूर्तिका स्वामित्व उत्पन्न होता है जब कोई श्रद्धालु अपने किसी द्रव्य-वस्त्र-सुवर्ण-रत्न-प्राणी-भूमि-गृह-क्षेत्र-कूप-व्यापारादि परसे अपना स्वामित्व निवृत्त करके किसी देवमूर्तिके स्वामित्वका संकल्प करे. लौकिक उदाहरणोंमें किसी दाताके द्वारा कुछ प्रदान किये जानेपर यदि प्रतिग्रहीता उसे स्वीकारता है तभी स्वत्वान्तरण (मालिकाना हकमें परिवर्तन) होता है. अर्थात् अपने स्वामित्वकी कोई वस्तु देनेवाला देना चाहे और लेनेवाला उसे लेना न चाहे या लेनेवाला लेना चाहता हो परन्तु देनेवाला उसे देना न चाहता हो तो नूतन स्वत्व उत्पन्न नहीं होता. श्रद्धाभाववश प्रदत्त वैध स्वामित्ववाली किसी वस्तु या धन को देवगण अपनी दिव्य सामर्थ्यसे देवमूर्तिरूपेण भी स्वीकारते ही हैं. अतः इकतरफा मनोवृत्ति भी यहां नियामिका बन जाती है. परिस्थिति जटिल, किन्तु, तब बनती है कि जब किसी देवमूर्तिपर किसी एक व्यक्तिका स्वत्व हो और दूसरा ऐसा व्यक्ति कि जिसका देवमूर्तिपर स्वत्व न हो फिर भी वह अपनी स्वत्ववाली धनभूमिपात्रवस्त्ररत्नअन्नादि वस्तुपरसे उस देवमूर्तिको उद्देश्य बनाकर अपने स्वत्वको

छोड़कर देवके स्वत्वका संकल्प करता हो. ऐसी स्थितिमें उन धन या वस्तुओं पर देवमूर्तिका स्वत्व उत्पन्न होता है या उसका कि जिसके स्वत्वकी स्वयं देवमूर्ति हो ?

यदि हम कन्यादान या स्त्रीधन के उदाहरणद्वारा इसे समझना चाहें तो बात सुबोध बन जाती है. कन्याविवाहप्रसंगमें कन्याके पिताको कहीं-कहीं 'चांदला' उपहार देनेकी रीति है. वह कन्याके ही विवाहनिमित्त दिया जाता होनेपर भी उसपर कन्याका स्वत्व उत्पन्न नहीं होता प्रत्युत कन्याके पिताका ही होता है. कन्यादानके समय, किन्तु, जो कन्याके हाथमें दिया जाता है वह अपनी कन्यापर पिताके स्वत्वके बावजूद पिताका नहीं प्रत्युत कन्याका ही होता है. इसी तरह दाक्षिणात्य पद्धतिवाली वरदक्षिणा या दहेज पर वधूनिमित्तवशात् मिलनेके बावजूद वधूका स्वत्व नहीं होता. कन्यादानके बाद परन्तु वधूपर वरका स्वत्व या स्वामित्व उत्पन्न होनेके बावजूद कन्यादानमें कन्याके हाथमें दिये गये द्रव्य या वस्तु पर वरका स्वत्व या स्वामित्व उत्पन्न नहीं होता, स्त्रीधन होनेसे. जिस द्रव्यपर किसी स्त्रीका स्वामित्व हो एतावता उस स्त्रीके स्वामीका उस स्त्रीके स्वामित्ववाले द्रव्यपर भी स्वामित्व हो जाना चाहिये - ऐसा तर्क चल नहीं सकता. क्योंकि यदि स्वामित्व होगा भी तो वह रक्षणोपयोगी स्वामित्व ही होगा, भोगोपयोगी स्वामित्व नहीं.

यही बात देवद्रव्यपर भी लागू होती है.

लौकिक उदाहरणोंमें दाताद्वारा दित्सित वस्तुको लेनेवाला अपनी रुचि या अधिकार के अनुसार प्रतिग्रह अथवा अप्रतिग्रह द्वारा ग्राह्य अथवा अग्राह्य बनाता है. जैसे किसी ब्राह्मणको कोई मदिरा-मांस जैसी वस्तु उपहारतया देना चाहता हो, तब भी सच्चा ब्राह्मण उसे स्वीकारेगा ही नहीं. अतः केवल देनेवालेकी इच्छा या संकल्प नियामक नहीं रह जाते. ऐसे ही देवमूर्तिको भी क्या दिया जा सकता है और क्या नहीं, वह देवमूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठाके मूलमें रहे शास्त्रीय विधानोंका ही विषय है, केवल दाताका नहीं. अतः देवार्थ प्रदत्त वस्तुके पूजनमें सकृद् विनियोगवशात् पुनः विनियोगानर्ह वस्तुओंपर यथाशास्त्रविधि कभी देवमूर्तिका स्वत्व रहता है और कभी नहीं. जैसे हमारे सिरके बालोंको कटवानेके बाद नाई उन बालोंका क्या करता है - इसकी हम चिन्ता नहीं करते, स्वत्वत्यागवशात्. ऐसे पत्र-पुष्प-जल-नैवेद्यादिके बारेमें उनकी देवपूजनमें पुनः उपयोगिताके अभावको लक्ष्यमें रखकर शास्त्रोंने उनपरसे देवस्वत्वको निवृत्त भी किया है और दायनियमकी तरह यथायथ किसी दूसरेके स्वत्वका विधान भी और

किसी तीसरेके स्वत्वका निषेध भी द्योतित किया है. तदनुसार ही पत्र-पुष्प-जल-नैवेद्यादिके उपभोगके बारेमें शास्त्रमर्यादा ही नियामक होती है, स्वच्छन्द उपभोगरुचि या स्वत्वप्रयुक्त अधिकार नहीं. जैसे परिवारके किसी अपुत्र वृद्धके दिवंगत होनेपर छीन-झपट कर उत्तराधिकारी नहीं बना जा सकता है.शास्त्र कानून या कुलरीति के अनुसार ही उत्तराधिकार मान्य किया जाता है.

दानमें स्वस्वत्वका त्याग तथा परस्वत्वका उत्पादन होता है. अतः देवस्वत्वके उत्पादनके बाद शास्त्रमें जहां देवोपभोग(अर्थात् देवपूजनमें विनियोग)के द्वारा देवस्वत्व निवृत्त हुआ माना है वहीं देवस्वत्व नहीं होता, अन्यत्र तो रहता ही है. जैसे लौकिक व्यक्ति, अपने स्वत्वनिर्वाह अथवा स्वत्वनिवृत्ति की इच्छा अपने मन वाणी या व्यवहार से प्रकट करता है, वैसे देवमूर्ति स्वपूजनविधायक शास्त्रोंद्वारा.

अतएव समर्पण या निवेदन के उदाहरणमें, जहां समर्पण-निवेदनकर्ताद्वारा न तो स्वस्वत्व निवृत्त किया जाता हो और न देवस्वत्वका उत्पादन ही, वहां भक्तद्वारा निज-स्वत्वकी वस्तुका देवमूर्तिकृत उपभोग ही केवल अभिलषित होता है. अत: निवेदन-समर्पणकी ऐसी प्रक्रियाद्वारा जब देवपूजनमें विनियोगार्थ कोई वस्तु दी जाती है तो देवस्वत्वके उत्पन्न होनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता.

पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवा उत्सर्गतया निवेदनकी प्रक्रियापर अवलंबित होती है, दानकी प्रक्रियापर नहीं. अतएव असमर्पित वस्तुके त्यागपर भार दिया गया है. साथ ही साथ, अपवादतया, कभी दानकी प्रक्रियासे भगवत्सेवार्थ कुछ प्रदत्त हो तो उसके देवद्रव्य होनेसे उसका उपभोग वर्जित भी कर दिया गया है, पुष्टिभजनप्रकारनिरूपक ग्रन्थोंमें.

अतएव श्रीहरिरायचरणने सेवापराधनिरूपण ग्रन्थमें ३६वें अपराधतया भगवानके नामसे कुछ भी पराये जनसे मांगकर भगवत्सेवा करनेपर सेवा निष्फल जाती है - ऐसा स्पष्ट कहा है. क्योंकि भगवानके नामसे कुछ भी मांगनेपर देनेवाला जो कुछ देगा वह स्वस्वत्व निवृत्त कर भगवानका स्वत्व उत्पन्न करेगा. अतः ऐसी सेवारीतिसे बचना चाहिये. क्योंकि असमर्पितत्यागके नियममें यह बाधक बनती है. अतः पुष्टिप्रभु उसे स्वीकारते ही नहीं है. दानकी प्रक्रियासे देनेका संकल्प जैसे मानसिक वाचिक अथवा व्यावहारिक भी हो सकता है, ऐसे ही निवेदन-समर्पणकी प्रक्रियासे देनेका संकल्प भी मानसिक वाचिक या व्यावहारिक भी हो सकता है. अतएव अपनी भगवत्सेवाका सार्वजनिक प्रदर्शन, जहां दान या समर्पण का भेद ही निभ न पाता हो, पुष्टिमार्गमें प्रतिबन्धित किया गया है. सेवा केवल

क्रिया तो है नहीं, वह तो भक्त्यंग अथवा भक्त्यर्थ ही करनी होती है. अतः भक्तिके रसभावके विचारवश भाष्यकारने उसे गुप्त रखनेको समझाया है. इसी तरह श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणने स्वीय भक्तोंको ही दर्शन करानेका विधान किया है. श्रीहरिरायचरणने भी, अतएव, अवैष्णवके समक्ष सेवा ही नहीं, स्वसेव्यके भी प्रदर्शनको अपराध मानकर वार्षिकसेवाकी निष्फलता तथा सेव्यस्वरूपको पंचामृतद्वारा पुनः शुद्ध करनेका विधान किया है. इन तीन वचनोंकी एकवाक्यता करनेपर सेवाका सार्वजनिक प्रदर्शन पुष्टिमार्गमें निन्दनीय ठहरता ही है.

स्वार्थ प्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपके लिये स्व अथवा स्वकीय ही समर्पणके अधिकारी होते हैं, परकीय नहीं. परार्थ प्रतिष्ठापित देवालयस्थ भगवत्स्वरूपके लिये सभीको समर्पणाधिकार होता है. जैसे अपने परिवारजन या इष्टमित्र को अपनी कोई वस्तु उपभोगार्थ प्रस्तुत करना परोपकार या दान नहीं कहलाता. जैसे एक गृहस्थके घरमें अपारिवारिक जनका 'आतिथ्य' किया जाता है परन्तु परिवारजनका 'आतिथ्य' नहीं कहलाता. धर्मशालामें सभी यात्रिओंको रहनेका अधिकार होता है. घर एक स्वार्थनिर्मिति है तो धर्मशाला परार्थनिर्मिति. अपने घरकी मरम्मतके लिये गामसे रुपिया मांगना 'भीख' कहलायेगी, 'समाजसेवा' नहीं. किन्तु सार्वजनिक धर्मशालाकी मरम्मतके लिये गामसे धनराशि मांगना 'भीख' नहीं कही जा सकती, वह 'समाजसेवा' है.

संक्षेपमें ये सारी बातें देवमूर्तिके स्वत्वको समझनेके स्थूलाधार हैं.हमारी यह धारणा बद्धमूल है कि विमर्शकार भी यदि इन्हें हृदत करते तो निरर्थक विवादमें उन्हें उलझनेकी इच्छा ही नहीं होती.

देवलकता

'देवलक' उसे कहते हैं जो देवस्वके उपभोगसे अपना जीवननिर्वाह चलाता हो अथवा देवपूजनको ही जिसने अपनी आजीविका बना ली हो. देवपूजन निजार्थ धर्माचरण है, इसे आजीविकाके रूपमें करना देवपूजनका दम्भ है. इसी तरह देवपूजन करवाना ब्राह्मणकी शास्त्रविहित आजीविका है, उसे पूजा करवानेवाला अपना धर्म मानता हो तो वह केवल अज्ञान है. इस देवलकवृत्तिकी निन्दामें शास्त्रका हेतु स्पष्ट है कि अपनी आजीविकाका प्रदर्शन धर्मतया नहीं करना चाहिये और धर्मको आजीविकाका साधन नहीं बनाना चाहिये.

वृत्त्यर्थ भगवदाराधनकी यह वकालत कि ''सर्वथा श्रद्धाविरहित केवल वृत्त्यर्थ भगवदाराधन देवलकता है परन्तु श्रद्धासहित वृत्त्यर्थ भगवदाराधन देवलकता

नहीं है'', शुद्ध अकाण्डताण्डव है. क्योंकि फिर तो चोरी करनेका शास्त्रीय निषेध भी केवल चोरी करनेकी बुद्धिसे ही चोरी करनेमें पाप मानता है परन्तु किसी धनवानको धनमदके दोषसे छुटकारा दिलानेके सदाशयके साथ चोरी करनेमें गुनाह नहीं है –ऐसे स्वीकारना पड़ेगा. व्यभिचार भी किसीमें केवल परस्त्री या केवल परपुरुष की बुद्धि रखनेपर दोष होगा परन्तु परस्त्री या परपुरुष की कष्टप्रद कामपीड़ाको निवृत्त करनेके परोपकारकी भावनाके साथ करनेपर वह व्यभिचार भी दोष नहीं रह जायेगा. मांसभक्षण भी केवल मांसबुद्ध्या भक्षण करनेपर दोषजनक होगा, प्राणाग्निहोम करनेके उदात्तभावके साथ मांसभक्षण भी दोषपूर्ण नहीं रह जायेगा. फिर तो देवद्रव्योपभोगकी निन्दा या देवलकवृत्तिकी निन्दा का भी बुरा तब ही मानना चाहिये, जब केवल निन्दाबुद्धिसे वह की जाती हो. जब वह निन्दा आचार्यवंशज अपने माथे बिराजते सेव्यस्वरूपकी सेवामें स्वयं अपने ही द्रव्यका विनियोग करें –ऐसी सद्भावनाके साथ की जाती हो तो ऐसी निन्दाका भी बुरा नहीं मानना चाहिये!

कहा जाता है कि ''देवतागुरुपूजार्थं यत्नतोप्यर्जयेद् धनम्'', अतः देवपूजनार्थ परायोंका वित्त मांगना–वापरना देवलकता नहीं. इस वचनमें स्पष्टतया यह कहा जा रहा है कि देवता तथा गुरु के पूजनके लिये प्रयत्नपूर्वक धन अर्जित करना चाहिये परन्तु ऐसे तो नहीं कहा कि देवगुरुपूजनको ही धनोपार्जनका उपाय बना लेना चाहिये!

इसी तरह जो ''येन केन प्रकारेण विष्णोराराधनं परं तस्माद् देवलकत्वं तु न विष्णुविषये क्वचित्'' वचन मिलता है, उसमें यदि ''येन केन प्रकारेण''से मिलती छुटके इर्दगिर्द कोई लक्ष्मणरेखा ही न स्वीकारनी हो तो ठगी–चोरी–डकैती–धनिकोंकी हत्याके प्रकारोंसे भी अर्जित धनसे विष्णुके आराधनको धर्मानुमोदित मानना पड़ेगा. यदि कहीं लक्ष्मणरेखा खींचनी हो तब उस वृत्तके बाहर धनोपार्जनके उपायतया स्वयं विष्णुकी आराधनाको तो रखना ही पड़ेगा. क्योंकि इस वचनमें भी विष्णुकी आराधनाकी साध्यता ही निर्दिष्ट हो रही है, साधनता नहीं. इसी तरह अनिर्दिष्ट प्रकारोंकी साधनता भी तृतीया विभक्तिद्वारा द्योतित हो रही है. ऐसी स्थितिमें ''अनिषिद्धेन येन केन प्रकारेण'' अर्थ अकाम गलेपतित होगा. अन्यथा चण्डीयागके अनुष्ठानार्थ या भैरवजीके मन्दिरनिर्माणार्थ या शिरडीसांईबाबाको साठ हजार रुपयोंकी कीमती चद्दर चढानेके लिये यदि कोई विष्णुकी आराधना धनोपार्जनके उपायरूपेण करता हो तो उसे भी पुष्टिभक्तिकी

प्रधानकाष्ठाके रूपमें मान्य करना पड़ेगा! स्पष्ट है– इस प्रकारमें यदि भक्तिमार्गकी दृष्टिसे, महाप्रभुके विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें निषिद्ध अन्याश्रयका दोष लगता हो तो, अपने संसारको चलानेके लिये कृष्णसेवाके अनुष्ठान करनेपर शिक्षाश्लोकी ग्रन्थमें निषिद्ध बहिर्मुखता दोष लगता है, यह भी स्वीकारना पड़ेगा.

कुछ आधुनिक अपठित आचार्यवंशज इधर प्रचार कर रहे हैं कि षोडशग्रन्थ तो वैष्णवोंके लिये ही महाप्रभुद्वारा उपदिष्ट हैं अतः षोडशग्रन्थकी आज्ञायें स्वयं महाप्रभुके वंशजोंपर लागू नहीं होती. तब तो स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षाश्लोकीको, जिसे महाप्रभुने अपने वंशजोंको संबोधित करके ही उपदेश दिया है, उसे महाप्रभुके वंशजोंको अपने उपर बन्धनकारी मानना ही पड़ेगा! एतदर्थ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणद्वारा उपदिष्ट शिक्षाश्लोकीद्वारा ही इस आमुखका उपसंहार हम करना चाहेंगें:

मूल: *यदा बहिर्मुखा यूयं भविष्यथ कथञ्चन।*
तदा कालप्रवाहस्था देहचित्तादयोप्युत।।
सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मानिति मतिर्मम।
न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्।।
भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वश्चैहिकश्च सः।
परलोकश्च तेनायं सर्वभावेन सर्वथा।।
सेव्यः सएव गोपीशः विधास्यत्यखिलं हि नः।

भावानुवाद: जब तुम ''येन केन प्रकारेण'' बहिर्मुख हो जाओगे तब कलिकालके या विषयावेशके आवेगके प्रवाहमें बहते तुम्हारे देह (जिसके पोषणार्थ नित्य भगवत्सेवा आजीविकाके रूपमें की जाती है) और चित्त (जिसमें रहे पीठाधीशत्वादिके प्रतिष्ठामोहके पोषणार्थ छप्पनभोगादि मनोरथोंके सार्वजनिक प्रदर्शन किये जाते हैं) आदि ही तुम्हें सभी तरहसे निगल जायेंगें! –ऐसी बिलकुल साफसाफ मेरी समझ है. क्योंकि श्रीकृष्ण हमारे लौकिक स्वामी नहीं है, अतः हमारे ऐसे मनो(रथ)भावोंको वे बिलकुल पसन्द नहीं करेंगें. अपना ऐहिक पारलौकिक सभी कुछ श्रीकृष्णको मानकर (अर्थात् अपने लौकिक ऐश्वर्य, रक्षापोषण, धन–पद–प्रतिष्ठा को अपना प्रयोजन मानकर नहीं)

सर्वभावसे श्रीकृष्णको ही अपना सर्वस्व मानकर भजन करो. अपने सेवकके हितमें जो कुछ भी उचित होगा वह सभी कुछ स्वयं श्रीकृष्ण करेंगें ही.

हम आचार्यवंशज यदि इस शिक्षाश्लोकीको हृदयंगम करते तो न विमर्श ग्रन्थकी आवश्यकता रह जाती और न ही इस विशोधनिकाकी. पांच सौ वर्षोंसे चले आ रहे इस सम्प्रदायके लिये इस विमर्श ग्रन्थ तथा विशोधनिका का प्रकट होना सचमुचमें एक सामुदायिक लज्जाका विषय है. फिर भी ''सिद्धान्तवचनावलीका अनुवाद मूंहमें भर कर तो लाया हूं पर बोलूं कैसे ? शास्त्रार्थ तो करने न्याय-व्याकरण-काव्यादिमें पारंगत होनेसे सभी तरह सक्षम हूं पर तटस्थ मध्यस्थके अभावमें अपनी युक्ति प्रकट कैसे करूं ? चूंकि कि चर्चा तो अधूरी ही रही थी पर बड़ोंने पूर्वसूचनाके बिना मुझे अभिनन्दित करना चाहा तो उसे इन्कारूं कैसे ?'' - ऐसी शाखामृगैक-शोभनीय निरन्तर शाखाचंक्रमणकी नितान्त बचकानी हरकतें करनेके बजाय जो भी अपना मत हो उसे विद्वज्जनोचित साहस तथा शिष्टजनोचित शान्त स्पष्ट और पर्याप्तप्रमाणोपन्यासयुक्त भाषामें प्रकट करना एक अच्छी बात है. विमर्शकारकी प्रस्तुत कृति, कमसे कम इस हेतुवश,निश्चय ही नितान्त अभिनन्दनीय है -इसे स्वीकार करनेमें मुझे तनिक भी संकोच नहीं है. मुझसे इन प्रशंसनीय गुणोंका निर्वाह भलीभांति हो नहीं पाया है अपनी इस न्यूनताका मुझे अपने इस लेखनमें भान तो है परन्तु इस अक्षमताको दूर नहीं कर पा रहा हूं तदर्थ सभी सहृदय पाठकोंसे क्षमायाचना करते हुए...

वि.सं. २०४९ ***गोस्वामी श्याममनोहर***

चैत्र कृष्णा अष्टमी

विशोधनिका – द्वितीयप्रकरणसूचि

१ उपक्रम १-८

१. पुष्टिभक्तिमें अनिषिद्धवृत्तिकी उपयोगिता

२. आवश्यक कर्तव्योंकी कसौटी

३. पुष्टिभक्ति - वर्णाश्रमधर्म

४. प्रस्तुत प्रकरणका स्वरूप

२ ब्राह्मणत्व ९-२९

१. विषयवाक्योंके सन्दर्भमें स्वमार्गीय गुरुत्व

२. ब्राह्मण्यनिर्वाहक षट्कर्मोंका स्वरूप

३. चार आश्रमोंकी अनापद्वृत्तियां

४. आपद्वृत्तिओंका स्वरूप

५. निष्कपट भगवदाराधनमें कपटके प्रकार

६. परिच्छेदोपसंहार

३ वैदिक गुरुत्व ३०-४४

१. विषयवाक्यके सन्दर्भमें स्वमार्गीय गुरुत्व

२. आर्त्विज्य

३. जनकपितृतारूप गुरुत्व

४. उपाध्यायरूप तथा आचार्यरूप गुरुत्वके अन्तर्गत वृत्त्यर्थ भगवदाराधनकी अशक्यता

५. सम्बद्ध भागवतवचन

४ तान्त्रिक गुरुत्व ४५-८८

१. विषयवाक्यका सुबोधिनीवर्णित अभिप्राय

२. पुष्टिमार्गमें कौण्डिन्य-गोपिकाओंके गुरुत्वका स्वरूप

३. अविहितत्वे सति अविरुद्धत्वम् तथा शिष्टाचारप्रामाण्य

४. शास्त्रोंमें तन्त्रोंका स्थान तथा उनका सामान्य परिचय

५. स्वार्थ-परार्थ प्रतिष्ठा तथा अर्चनका स्वरूप

६. द्रव्यदाता तथा दानके प्रकारोंका स्वरूप

७. कर्मीभूत देयद्रव्यका स्वरूप

८. सम्प्रदानीभूत देवका स्वरूप

९. बालकबुद्धिप्रसूततर्कनिरसन

५ **साम्प्रदायिक गुरुत्व** ८९–११७

१. विषयवाक्य

२. श्रीविठ्ठलनाथ–प्रभुचरण–वचनविवेचन

३. श्रीगोपीनाथ–प्रभुचरण–वचनविवेचन

४. श्रीहरिरायचरण–वचनविवेचन

५. श्रीपुरुषोत्तमचरण–वचनविवेचन

६. स्वमार्गीयसत्संगस्वरूपनिर्णय

६ **उपसंहार** ११८–१२२

१. देवद्रव्यभक्षणाभक्षणयुक्तिविवेचन

२. पांचसौ वर्षबाद कपटसे मार्गविलोपनकी भविष्यवाणी

७ **परिशिष्ट** १२३–१२६

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

शास्त्रीय सन्दर्भमें :

पुष्टिमार्गीय – सेवार्थ आजीविकास्वरूप

विशोधनिका

उपक्रम

जयति जगति वाणी कापि दोषप्रहाणी
विमतिदुरुदितस्य स्वाध्वसंक्षोभकस्य
निरसितुमिह दोषं देहि तां भावशुद्धिं
व्रजपतिरतिमार्गाद् भ्रंसतां नैव कोपि ।।

मूल : याममात्रं भगवत्सेवां विधाय पश्चाद् अनिषिद्धेन उपायेन जीवनं सम्पादयेत्. पारम्पर्यजीवनमपि निषिद्धं चेत् तदा त्यक्तव्यम्, ''अचौराणामपापानाम्'' (भाग. ७।११।३०) इतिवचनात् (त.दी.नि. सर्वनि. प्रका. २३२).

निर्गुणस्य भक्तियोगस्य तल्लक्षणम् उदाहृतम् इति प्रमाणम्. आत्यन्तिकभक्तेः लक्षणम् आह 'अहैतुकी' इति सार्धाभ्याम्. या अहैतुकी पुरुषोत्तमे भक्तिः सएव भक्तियोग आत्यन्तिक उदाहृत इति सम्बन्धः. पुरुषोत्तम एव भक्तिः नतु पुरुषेषु अवतारेषु वा. 'भक्ति'श्च प्रेमपूर्विका सेवा. हेतुः=फलानुसन्धानं, तद्रहिता 'अहैतुकी'= अनिमित्ता. अनेन सगुणा निवारिता. 'अव्यवहिता'=कालेन कर्मणा वा यत्र सेवायां व्यवधानं नास्ति, नतु निद्राभोजनादिना, तस्य सेवाहेतुत्वात्. 'या भक्तिः' इति लोकवेदप्रसिद्धा नतु चौर्यादिना विषयान् सम्पाद्य भगवत्सेवाकरणम् (सुबो. ३।२९।१२).

भावानुवाद : अधिक शक्य न हो तो एक यामभर भी भगवत्सेवा करनी चाहिये और भगवत्सेवा कर लेनेके बाद शास्त्रतः अनिषिद्ध उपायसे आजीविका अर्जित करनी चाहिये. कुलपरम्परासे चली आ

रही आजीविका भी यदि शास्त्रनिषिद्ध हो तो उसका त्याग कर देना चाहिये, ''अचौराणामपापानाम्'' वचनमें यही बात कही गई है.

निर्गुण भक्तियोगका लक्षण जो निरूपित किया है वही उसे जाननेका प्रमाण है. आत्यन्तिक भक्तिका लक्षण यह है: पुरुषोत्तममें जो अहैतुकी भक्ति होती है उसे ही 'आत्यन्तिक भक्तियोग' कहते हैं, भक्तिका पुरुषोत्तममें होना आवश्यक है, पुरुषोंमें या पुरुषोत्तमके अवतारोंमें नहीं. 'भक्ति'का अर्थ होता है प्रेमपूर्विका सेवा. किसी फल (आजीविका-धन-ऐश्वर्य-प्रतिष्ठादि) के आशय अर्थात् हेतुसे रहित भक्ति 'अहैतुकी = अनिमित्त भक्ति' कहलाती है(अर्थात् वृत्त्यर्थ-प्रतिष्ठार्थ-ऐश्वर्यार्थ की जाती भक्ति सगुणा भक्ति होती है).वह नहीं करनी चाहिये. वह भक्ति काल या कर्म से अव्यवहित भी होनी चाहिये, अर्थात् हमारे काल और कर्म सेवामें व्यवधान नहीं बनने चाहिये. जैसे कि निद्रा या भोजनादि भक्तिमें व्यवधान बन जाते हैं जब इन्हें भक्त्यर्थ हम नहीं करते. भक्ति वही जो लोकवेदमें प्रसिद्ध उपायों या सामग्री से की जाये. अर्थात् चोरी डकैती आदि शास्त्रनिषिद्ध-लोकनिषिद्ध उपायोंसे सामग्री जुटाकर भगवत्सेवा नहीं करनी चाहिये(अर्थात् भक्त्यर्थ वृत्ति-प्रतिष्ठा-ऐश्वर्य बाधक नहीं होते परन्तु वृत्त्यर्थ-प्रतिष्ठार्थ-ऐश्वर्यार्थ की जाती भक्ति सगुणा भक्ति होती है).

इसमेंसे प्रथम वचनके आवरणभंगमें श्रीपुरुषोत्तमजीने जो समझाया है उसका सार कुछ इस तरह है: श्रीमद्भागवतके ''किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकंकाः यवनाः खसादयः येऽन्ये च पापाः यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः'' वचनके बलपर भगवानके भजन-कीर्तनादि करनेका अधिकार सभीको है. फिर भी ''शुद्ध आहार लेनेपर सत्त्वशुद्धि'' (छान्दोग्योपनिषद्) होती है अतः आहारशुद्धिके लिये शास्त्रतः जो विहित आजीविकायें हैं उन्हीं वृत्तिओंके द्वारा सम्पादित अन्न शुद्ध होता है. अतः इस आवश्यकताको दृष्टिगत रखते हुए कभी-कभी शास्त्रविहित वृत्तिका भी संकोच करना आवश्यक हो जाता है.क्योंकि''अकारण प्रदत्त धनका प्रतिग्रह करनेसे ब्राह्म तप तेज तथा यश तीनों ही क्षीण होते हैं.अतः प्रतिग्रहवृत्तिके शास्त्रविहित होनेपर भी याजन और अध्यापन की वृत्तिद्वारा ही निर्वाह चलाना ब्राह्मणके लिये श्रेयस्कर होता है''(भाग. ११।१७।४१)वचनमें भी यही बात समझाई गई है. भागवत(७।११।३०)में भी ब्राह्मणादि चार वर्णोंकी

वृत्तिके निरूपणके बाद नारदजीने वर्णसंकरों, शूद्रों, तथा अवशिष्ट वर्णबाह्य लोगोंकी वृत्तिके बारेमें यह स्पष्ट विधान किया है कि उनकी जो भी वृत्ति, चोरी या ऐसे अन्य पापोंवाली न हो तो,कुलक्रमागत ही हो सकती है. अतः शुद्ध वृत्तिका अवलम्बन करनेपर ही तामस-राजस-सात्त्विक ऐसी सगुण अवस्थाओंके बाद निर्गुणावस्था क्रमशः प्राप्त हो सकती है. इसका सुविशद विचार श्रीपुरुषोत्तमजीने स्ववृत्तिवादमें भी किया है.(आवरणभंग २३२का सारांश).

भगवत्सेवा, जिसका 'तनुवित्तजा' प्रमुख स्वरूप है, उसे निभाना प्रत्येक पुष्टिमार्गीयकेलिये अपरिहार्य कर्तव्य है. सभी वर्णी, वर्णसंकर, शूद्र तथा वर्णबाह्यों को भी अपने-अपने घरोमें अपने-अपने पारिवारिक जनोंके सहयोगसे अपने-अपने तनु-वित्तके विनियोगपूर्वक भगवत्सेवा करनेके अधिकार और कर्तव्य दोनों ही हैं.

इस अधिकार तथा कर्तव्य के निर्वाहार्थ गृह-परिवार-चित्त-तनु-वित्त सभीको अव्याकुल रखना भी आवश्यक माना गया है. तदर्थ कुछ शुद्धिनियमोंको भी आवश्यक माना गया है. ये वेही शुद्धिनियम हैं जिन्हें आज हम 'अपरस' कहते हैं. ये शुद्धिनियम सभी वर्णी या वर्णेतरोंके लिये एकसमान नहीं हो सकते. उदाहरणतया पुष्टिमार्गीय गोस्वामी महानुभावोंकेलिये किन्हीं ब्राह्मणोंके हाथसे पक्वान्नग्रहणकी छूट थी, अन्यसे नहीं. इस नियमका गोस्वामीतर पुष्टिमार्गीयोंसे कुछ भी लेना-देना नहीं था. स्नानाशनपानादिके कुछ न्यूनतम सामान्य आचारनियम अवश्य ही पाये जाते हैं.

साथ ही साथ यह भी एक तथ्य है कि शास्त्रतः निषिद्ध अनेक अनाचार भी देश-कालके प्रभाववशात् आज इतने व्यापकरूपमें समाजके भीतर पैठ गये हैं कि कोई व्यक्ति बचना चाहे तब भी उन अनाचारोंसे अपने आपको बचा नहीं सकता है. ऐसी स्थितिमें शास्त्रकी कसौटीपर खरे उतरनेवाले विहित-निषिद्ध आचारानाचार भी बहुधा कृत्यर्हता अर्थात् कर पानेकी अपनी सामर्थ्यकी कसौटीपर विफल हो जाते हैं. अतएव किसी भी कर्मके आवश्यक कर्तव्य होनेकी कसौटी तीन मानी गई हैं:

(१) वह शास्त्रद्वारा विहित होना चाहिये या निषिद्ध न होना चाहिये.

(२) वह स्वाधिकारानुरूप अभिलषित फलका साधक होना चाहिये.

(३) वह हमारे सामर्थ्यके अनुरूप शक्य होना चाहिये.

कुछ कार्य करनेको हम समर्थ हो सकते हैं, उदाहरणतया ब्राह्मण मदिरापान करने समर्थ भी हो; एतावता मदिरापान कर लेना धर्म नहीं हो सकता. मदिरापान ब्राह्मणके लिये शास्त्रनिषिद्ध होनेके कारण वह कभी धर्म नहीं हो सकता है.

कुछ कार्योंको करने हम समर्थ हों और शास्त्रमें उसकी विधि भी मिल सकती है. शास्त्र, परन्तु, उसका जिस फलके साधनतया विधान करता है, वह फल ही यदि हमें अभीष्ट न हो तो, या उसे पानेका हमारा अधिकार ही न हो तो, वह कार्य हमारे लिये धर्म नहीं रह जाता है. उदाहरणतया ऐकान्तिक विष्णुभक्तको या ऐकान्तिक शिवभक्तको अपने-अपने इष्टदेवसे इतर देवका पूजन धर्मरूप नहीं होता, तज्जन्य फलके अनभीष्ट होनेके कारण.

इसी तरह शास्त्रविहित होने तथा इष्टसाधन होनेकी कसौटीपर खरे उतरनेवाले किसी कर्मके भी कृत्यर्ह न होनेपर, अर्थात् हमारे लिये उसे कर पाना शक्य न होनेपर, वह हमारे लिये धर्मरूप नहीं रह जाता. उदाहरणतया अधर्मबहुल प्रदेशका त्याग करके धर्मबहुल प्रदेशमें निवास करना चाहिये - इस बारेमें शास्त्राज्ञा स्पष्ट होनेपर भी तथा हमें अभीष्ट होनेपर भी कहां बसना ? क्योंकि सर्वत्र एक जैसा ही प्रकार सम्प्रति चल रहा है.

स्नान-अशन-पान आदिके शारीरिक व्यवहारमें जो आचारव्यवस्था अनुसरणीय है वही आजीविकाके उपार्जनके आर्थिक व्यवहारमें भी अनुसरणीय है. वैसे यह एक अटल शास्त्रीय तथ्य है कि सभी तरहकी शुद्धिओंसे उत्कृष्ट धनशुद्धि होती है. क्योंकि शुद्ध धनसे अपरस पालनेवाला शुद्ध होता है परन्तु अशुद्ध धनसे अपना निर्वाह चलानेवाला कितनी भी बड़ी अपरस कुआके जलकी और मिट्टीकी क्यों न वापरे, शुद्ध हो नहीं सकता. (''सर्वेषामपि शौचानाम् अर्थशौचं परं स्मृतं योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः'' - मनुस्मृ. ५।१०६). आज कुएके जलके बिना ठाकुरजीकी झारीमें जल भरा नहीं जा सकता - कहनेवाले स्वयं देवलकवृत्तिसे नहीं छूते हैं, किमाश्चर्यमतः परम् !

अतएव विष्णुस्मृतिमें गृहस्थाश्रमिओंके बारेमें तीन तरहके धनका निरूपण किया गया है:

(१) शुक्ल धन

(२) शबल धन

(३) कृष्ण धन

''शुक्ल धनसे ऐहिक कर्मोंका निर्वाह दैविक = अभिनन्दनीय माना गया है. शबल धनसे ऐहिक कर्मोंका निर्वाह मानुष्य = अनिन्दनीय होता है. कृष्ण धनसे ऐहिक कर्मोंका निर्वाह तिर्यक्त्व = निन्दनीय होता है. शास्त्रतः जिसे जो वृत्ति विहित हो उस वृत्तिसे उपार्जित धन उसके लिये शुक्ल धन होता है. अनन्तरित वृत्ति, अर्थात् ब्राह्मणको क्षात्रवृत्ति या क्षत्रियको वैश्यवृत्ति या वैश्यको शूद्रवृत्ति से अथवा शूद्रको वर्णबाह्यों की वृत्तिसे प्राप्त धन शबलधन होता है. इसी तरह अन्तरित; यथा ब्राह्मणकेलिये वैश्य-शूद्र-वर्णबाह्यवृत्ति, क्षत्रियके लिये शूद्र-वर्णबाह्यवृत्ति या वैश्यके लिये वर्णबाह्यवृत्ति द्वारा उपार्जित धन कृष्णधन होता है. पितृक्रमागत प्रीतिवश भेंटमें मिला या भार्याके साथ मिला धन सभीकेलिये शुक्ल ही होता है. इसी तरह घूंस खाकर, अविक्रेय वस्तुके विक्रयद्वारा, प्रत्युपकारार्थ प्राप्त धन शबलधन होता है. सूदखोरी, चोरी, जुआ, डकैती द्वारा मिला धन कृष्णधन होता है. पुरुष जो कुछ जैसे द्रव्यसे करता है वैसा ही फल उसे इस लोकमें तथा परलोकमें मिलता है'' (विष्णुस्मृ. अध्याय ५८).

इन शास्त्रीय सन्दर्भोंको दृष्टिगत रखकर अन्य किसी भी पुष्टिमार्गीय वैष्णवकी सेवोपयोगी आजीविकाके स्वरूपका विचार अप्रासंगिक तथा अनावश्यक होनेसे केवल पुष्टिमार्गीय धर्मगुरुओंकी आजीविकाके शास्त्रशुद्ध रूपका विचार हमारे इस लेखनका प्रयोजन है. मूलतः यह किसी वैयक्तिक सन्दर्भमें हमें निर्धारित नहीं करना है, क्योंकि किस व्यक्तिकी क्या-कैसी सामर्थ्य है या नहीं है - इसे निर्धारित करनेका न तो हमारा अधिकार ही हम स्वीकारते हैं और न उससे अभीष्ट प्रयोजन ही सिद्ध हो पायेगा. अतः कृत्यर्हताका विचार तो आत्मालोचनद्वारा ही सम्भव है. फिर भी धर्मतया शास्त्रविहित कोई कृत्य हमसे शक्य हो या अशक्य हो, किसी भी सूरतमें एक व्यक्तिकी वैयक्तिक सामर्थ्य या असामर्थ्य किसी दूसरे व्यक्तिकेलिये अनुकरणीय आदर्शतया स्वीकारी नहीं जा सकती, वह व्यक्ति चाहे कितनी भी उच्च पदवीपर समारूढ़ क्यों न हो ! अतः धर्मनिर्धारक तीन घटकोंमेंसे कृत्यर्हताको नितान्त वैयक्तिक मानते हुए अवशिष्ट शास्त्रविहितता तथा इष्टसाधनता रूप घटकोंका ही विचार हमें करना है.

वैसे तो कहा जा सकता है कि किसे क्या अभीष्ट है या क्या अनभीष्ट - यह भी वैयक्तिक प्रश्न ही है, फिर भी यदि किसी व्यक्तिको धर्मगुरुत्वके अधिकार या उत्तरदायित्व का वहन करना हो तो कैसी अभिलाषा उसकी धर्म्य हो सकती है और कैसी नहीं - यह निर्धारण शास्त्रतः शक्य होनेसे उसकी वैचारिक

संगति है ही. कहा तो कृत्यके लिये भी जा सकता है कि एक धर्मगुरुके लिये कैसी कृति धर्म्य हो सकती है और कैसी नहीं – यह निर्धारण भी शास्त्रतः शक्य होनेसे वह विचार भी कर लेना चाहिये. यहां यह अवधेय है कि निर्वैयक्तिक सन्दर्भमें, अर्थात् धर्मगुरु होनेके स्वरूपमें तो वह इष्टसाधनता तथा शास्त्रविहितता से गतार्थ है; और सर्वथा वैयक्तिक सन्दर्भमें शास्त्रतः निर्धारित होनेपर भी जो अशक्य है वह शक्य हो नहीं पाता. अतः विचार कर भी लें तो वह विशेष लाभदायक नहीं हो सकता.

पुष्टिभक्ति शास्त्रविहित अनुष्ठेय कर्म नहीं है परन्तु महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणद्वारा निर्दिष्ट पुष्टिप्रभुकी आराधना है. फिर भी उस पुष्टिभक्तिका बहाना बनाकर किसी भी शास्त्रीय विधि-निषेधोंके उल्लंघन करनेकी कोई छूट महाप्रभुने दी नहीं है. महाप्रभुकी उपदेशनीति ''अविहितत्वे सति अविरुद्धत्वम्'' की है, जिसकी विवेचना आगे की जायेगी. अतः किसी भी बातकी शास्त्रविहितता अथवा शास्त्रनिषिद्धता के विचारमें श्रुति-स्मृति-पुराण-तन्त्रादि शास्त्रोंके वचन तथा महाप्रभुप्रभृति पुष्टिमार्गीय पूर्वाचार्योंके वचनों के परस्पर समन्वयद्वारा ही धर्मरूप कर्तव्यका अथवा अधर्मरूप अकर्तव्यका स्वरूप निर्धारित हो सकता है, अन्यथा नहीं.

इस सन्दर्भमें महाप्रभुके ये विषयसंग्राहक वचन मननीय हैं: ''आद्यन्तयोस्तु भिक्षान्नं द्वितीये तु शिलोञ्छनं, तृतीये वन्यभेदाः स्युर्भिक्षायामपि संयमः, गुरुसेवा कर्मकृतिस्तपः पर्यटनं क्रमात्, स्वाध्यायेन तथा कृत्या तपसा मानसा मखाः, अत्यावश्यकमेतद्धि चतुर्णां तत् पृथक् पृथक्, श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्, स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः, उत्तरोत्तरधर्मेषु निष्ठायामधिकं फलं, तस्य चेत् परमा भक्तिः तिरोधानं भविष्यति ... भक्तेरपि स्वाश्रमधर्मसहितज्ञानसहितायाएव तिरोधाननाशकत्वम् उक्तं भवति. एषा भक्तिः माहात्म्यज्ञानपूर्वकपरमस्नेहरूपा, तथाभूता भगवत्परिचर्यायुक्ता भवेत् ... स्वतः पुरुषार्थरूपा सेवा चेत् सा भक्तिः 'स्वतन्त्रा' इति उच्यते (त.दी.नि. सर्वनि. प्रका. १९३-१९६). अर्थात् ब्रह्मचारीकी वृत्ति भिक्षा है तथा धर्म गुरुसेवा और स्वाध्याय. गृहस्थकी वृत्ति शिलोञ्छादि और धर्म यज्ञादि कर्मोंका शरीरसे अनुष्ठान. वानप्रस्थकी वृत्ति वन्य फलोंपर निर्भर रहनेकी तथा धर्म तपस्या. संन्यासीकी वृत्ति भिक्षा तथा धर्म पर्यटन और मानसयज्ञ. यों इन चारों आश्रमोंके वृत्ति और धर्म अलगअलग होते हैं. परधर्मके भलीभांति अनुष्ठानके बजाय अपने धर्मका विगुण

अनुष्ठान भी अधिक श्रेयस्कर होता है. भयावह परधर्मको अपनाकर बचनेके मोहके बजाय स्वधर्मको निभाते हुए मर जाना बेहतर होता है. उत्तरोत्तर धर्मोंमें निष्ठाके बढ़ते जानेपर उत्तरोत्तर श्रेष्ठ फल मिलता है. साथ ही साथ भगवानमें परम भक्ति हो तो भगवत्प्राकट्य अवश्य होता है. अपने आश्रमधर्मोंके साथ माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहरूपा भक्ति होनी चाहिये. भक्ति यदि भगवत्सेवाके साथ हो तो वह 'परमा भक्ति' कहलाती है. स्वतःपुरुषार्थतया भगवत्सेवा करना 'स्वतन्त्रा भक्ति' कहलाती है.

श्रुत्यादि शास्त्रविहित कर्तव्य किसी वर्ण या आश्रम अथवा केवल मनुष्यता को लक्ष्यमें रखकर दिये गये हो सकते हैं. अतः वे उन-उन दृष्टिकोणोंसे यावद्देहाभिमान हमारे लिये नियत कर्तव्य ही होते हैं. उल्लिखित स्वतन्त्रभक्तिरूप पुष्टिधर्मका उपदेश देहाभिमानको लक्ष्यमें रखकर नहीं किया गया है, प्रत्युत जीवात्मा-परमात्माके बीच प्रकट हुए अंशांशिभाव, अर्थात् आत्मधर्मको लक्ष्यमें रखकर किया गया है. पुष्टिमार्गीय भी जैसे देहवान होते हैं वैसे ही आत्मवान भी होते ही हैं.अतः उनके वर्णाश्रमधर्मरूप या वर्णाश्रमेतर-धर्मरूप कर्तव्य या अधर्मरूप अकर्तव्य का विचार सामान्य शास्त्र तथा महाप्रभुप्रभृति पूर्वाचार्योंके परस्पर समन्वित वचनोंसे ही निर्धारित हो सकता है, अन्यथा नहीं.

यही कारण था कि प्रथम प्रकरणमें हमने पुष्टिभक्तिरूप सेवाके तनुवित्तजारूप नियत कर्तव्यके निर्धारणमें महाप्रभुप्रभृति पूर्वाचार्योंके वचन तथा वित्तजा कृतिमें आवश्यक स्वस्वामिक वित्तके स्वरूपके निर्धारणार्थ वित्तदान और वित्तागम के धर्म्य प्रकारोंकी विवेचना सामान्य शास्त्रोंके आधारपर देनेकी चेष्टा की थी. क्योंकि ''कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा'' महाप्रभूपदिष्ट वचनकी व्याख्यामें प्रभुचरणने ''वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा – एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्'' वचनमें वित्तदान और वित्तग्रहण के प्रसंगमें तनुवित्तजा सेवाको परिभाषित किया है. उल्लेखनीय यहां यही है कि विमर्शकाराभिनन्दित वृत्त्यर्थ भगवत्सेवा अपनी स्वतःपुरुषार्थरूपता खो देती है. अतः वह भक्ति न रहकर केवल अर्थपुरुषार्थरूपा आजीविका बन जाती है, निषिद्ध होनेसे निन्दिताचरण भी.

इसी तरह सामान्य शास्त्रवचनों तथा महाप्रभुप्रभृति पूर्वाचार्योंके वचनोंके समन्वित अभिप्रायकी पूर्वप्रकरणवत् विवेचना करना भी इस प्रकरणका भी

प्रयोजन है. वैसे ही 'सेवा-देवद्रव्यादि विमर्श' ग्रन्थके असमंजस विधानोंका विशोधन करना भी अभिप्रेत है ही, यथापूर्व.

सिद्धान्तसार

यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः इति.

-सुबो. २।९।१९.

जो स्वार्थवश भगवत्सेवा करता हो उसे अधम समझना चाहिये.

-महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य.

ब्राह्मणत्व

मूल: विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ।।१५५।।
न हायनैः न पलितैः न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयः चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ।।१५४।।
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालम् इत्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ।।१५३।।
अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः।
तमपीह गुरुं विद्यात् श्रुतोपक्रियया तया ।।१४९।।
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ।।१५७।।
यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि निष्फला।
यथा चाज्ञे फलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ।।१५८।।
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।।१६८।।

(मनुस्मृ. अध्याय २).

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ।।
वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ।।
इष्टं पूर्तं प्रकर्तव्यं ब्राह्मणेन प्रयत्नतः।
इष्टेन लभते स्वर्गः पूर्तेन मोक्षमाप्नुयात् ।।
इष्टापूर्तौ द्विजातीनां सामान्यौ धर्मसाधनौ।
अधिकारी भवेच्छूद्रो पूर्ते धर्मे न वैदिके ।।

(अत्रिसंहिता)

न यज्ञार्थं धनं शूद्राद् विप्रो भिक्षेत् कर्हिचित्।
यजमानो हि भिक्षित्वा चाण्डालः प्रेत्य जायते।।
यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति।
स याति भासतां विप्रः काकतां तु शतं समाः।।
देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः।
स पापात्मा परलोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति।।

(मनुस्मृ. ११।२४-२६)

अनुवाद:शूद्रवर्णमें जन्मना ज्येष्ठत्व होता है, वैश्यवर्णमें धनधान्यके प्राचुर्यवशात् ज्येष्ठत्व होता है, क्षत्रियवर्णमें शक्तिके आधिक्यवशात् ज्येष्ठत्व होता है जबकि ब्राह्मणवर्णमें ज्ञानाधिक्यवशात् ही ज्येष्ठत्व होता है. न तो व्यतीत वर्षोंके कारण, न केशोंकी सफेदीके कारण, न वित्तके कारण; और न कुलबन्धुवर्गकी बहुलताके कारण ही कोई ब्राह्मण महान हो सकता है. ऋषिओंने तो इसे ही धर्मतया मान्य किया है कि जो भी हममेंसे वेद वेदांगादि शास्त्रोंको भलीभांति समझा सकता हो वही हमारे बीचमें महान माना जायेगा. बालक अज्ञानी होता है जिसे मन्त्रदाता पिता ज्ञान देता है. इसलिये जो अज्ञानी है उसे बालकतुल्य ही समझना चाहिये और जो मन्त्रदाता हो उसे पिताके तुल्य समझना चाहिये. अल्प या अधिक जितने भी वेदादि शास्त्रका जो उपदेश करनेवाला कोई हो, उसके उस सुनानेके उपकारका कृतज्ञ होकर उसे अपना गुरु मानना चाहिये. जैसे काठका हाथी या चमड़ेके बने मृग होते हैं, वैसे ही अनपढ़ ब्राह्मण भी नाममात्रका ही ब्राह्मण होता है. जैसे स्त्रियोंके लिये नपुंसक पुरुष किसी कामका नहीं होता, जैसे गायोंके बीच गाय किसी कामकी नहीं होती, जैसे मूर्खको दिया गया दान किसी कामका नहीं होता, ऐसे ही वेदज्ञानरहित ब्राह्मण भी किसी कामका नहीं होता. वेद पढ़े बिना जो द्विज अन्य किसी विषयमें परिश्रम करता है वह, मरकर नहीं परन्तु जीते जी ही,अपने वंशसहित अपने आपको शूद्र बना लेता है. (मनुस्मृ.).

(लड्डु पूड़ी सीरा खीर दहीभात मठड़ी के मनोरथोंके धंधोंमें उलझकर अपने कर्तव्यकी इतिश्री माननेवाले हम गोस्वामिओंके सामने आज ये वचन आरसीकी तरह रखनेपर कैसा प्रतिबिम्ब दिखलाई देता है - यह कहने-सुनने-सोचने-समझनेकी हिम्मत कहांसे कोई स्वमार्गी जुटा पायेगा!)

अग्निहोत्र तप सत्य तथा वेदोंका परिपालन आतिथ्य तथा वैश्वदेव को 'इष्टकर्म' कहा जाता है. वापी-कूप-तड़ाग-देवालय-अन्नक्षेत्र-उपवनादि सार्वजनिक हितके कार्य करना 'पूर्तकर्म' कहा जाता है. ब्राह्मणको इष्टकर्म तथा पूर्तकर्म दोंनो ही प्रयत्नपूर्वक करने चाहिये. इष्टकर्मसे स्वर्गप्राप्ति होती है, पूर्तकर्मसे (लाभ-पूजा नहीं, अर्थात् लाभपूजार्थ नहीं प्रत्युत) मोक्षप्राप्ति होती है. ये सभी द्विजोंके सामान्य कर्तव्य हैं, शूद्रोंका इष्टकर्ममें अधिकार नहीं परन्तु पूर्तकर्ममें अधिकार है. (अत्रिसंहिता).

ब्राह्मणको यज्ञकेलिये अद्विजोंसे कभी धन मांगना नहीं चाहिये. (जैसे भगवानके मनोरथोंके लिये हम पुष्टिमार्गी गामसे धन मांगते हैं!) क्योंकि अद्विजोंसे देवयजनार्थ धन मांगनेपर मरनेके बाद ब्राह्मण चाण्डाल बनता है. जो देवयजनार्थ धन मांगकर साराका सारा धन दान नहीं कर देता वह ब्राह्मण मरकर काकयोनिको प्राप्त होता है. देवस्व या ब्राह्मणस्व का जो लोभवश अपहरण या अपव्यय करता है वह पापी मरकर गीधोंके उच्छिष्ट शवमांस खानेवाला बनता है. (मनुस्मृति).

शास्त्रोपदेशाधिकार, धर्माचरणार्थ मन्त्रदीक्षाधिकार, अध्यापनवृत्ति अर्थात् गुरुभेंट और सत्प्रतिग्रह - ये यद्यपि ब्राह्मणोंके लिये तो शास्त्रनियत आजीविकारूप कर्तव्यतया विहित हुए हैं परन्तु अब्राह्मणोंके लिये आपद्धर्म आपद्वृत्तिके रूपमें ही विहित हुए हैं. तदनुसार अपने पुष्टिमार्गमें भी ब्राह्मणत्वमूलक सामान्य गुरुत्व तथा ''आचार्यवंशजत्वे सति भागवततत्त्वज्ञत्वे सति दम्भादिरहितत्वे सति कृष्णसेवापरत्वम्'' साम्प्रदायिक गुरुत्वके आदर्शतया मान्य है. आधुनिक कालमें इस लक्षणके पूर्वदलमें भी जब तुमुल विवाद उठ रहे हैं तब उत्तरदलमें निरूपित योग्यताके बारेमें- जैसा कि श्रीपुरुषोत्तमजीने प्रतिपादित किया है:''कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्त आहुः'तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात्'

''(त.दी.नि. सर्वनि. आवरण.२२८)तदनुसार- क्या गुर्वभावकाल प्राप्त हो गया है कि नहीं ?यह गम्भीर विचारकी अपेक्षा रख रहा है.

क्योंकि शास्त्रोंमें सामान्यतया गुरुवंशज अथवा ब्राह्मणेतर वर्णोंको भी आपद्धर्मतया गुरुत्वके अधिकारसे मण्डित किया गया है.यद्यपि कुछ व्यवहार स्वयं गुरु न होनेपर (अर्थात् जैसे हमारे यहां हम गुरुभूत महाप्रभुके केवल वंशज ही हों और कुछ नहीं तो) अथवा ब्राह्मण्यके विलोपन हो जानेपर शास्त्रवर्जित माने गये हैं. उदाहरणतयाह्न पादावनति-पादसंवाहन-उच्छिष्टभोजन-प्रतिग्रह आदि, गुरुवंशज अथवा ब्राह्मणेतर गुरुओंके लिये वर्जित माने गये हैं. (द्रष्टव्य: मनुस्मृ. २।२०९-२४२). इससे सिद्ध होता है कि ब्राह्मणवर्णमें भी गुरुके लिये कुछ विहित होनेपर भी गुरुपुत्रके लिये कई बातें वर्जित घोषित की गई है. आधुनिक गोस्वामिवर्ग यदि गुरुपदोचित अधिकारोंका उपभोग करना चाहते हों तो गुरुपदोचित कर्तव्योंका उत्तरदायित्व भी उनके गलेपतित होगा ही. वह यदि ब्राह्मणत्वमूलक हो तो ब्राह्मणत्वसे विरुद्ध जानेवाली अनेक बातोंपर अंकुशकी बात भी विचारनी ही पड़ेगी. अन्यथा ब्राह्मणेतर कोई अमॅरिकावासी पुष्टिमार्गी भी गुरुत्वका दावा करने लगेगा, तब शास्त्रीय निकष कोई रह नहीं जायेगा. तब विचार ''तू-तू-मैं-मैं'' में ही पर्यवसित हो जायेगा. अतः सर्वप्रथम ब्राह्मणत्वमूलक अधिकार-कर्तव्योंका स्वरूप शास्त्रतः सुनिर्धारित कर लेना आवश्यक है.

पूर्वप्रकरणमें पृष्ठ २७-३० तक ब्राह्मणवृत्तिके वास्तविक स्वरूपकी सुविशद विवेचना प्रस्तुत की ही गई थी. पिष्टपेषण, अतएव, अनावश्यक होनेपर भी एक प्रमुख तथ्यपर पुनः ध्यानाकर्षण प्रासंगिक बन जाता है. वह यह कि ब्राह्मणके लिये नित्यकर्मतया शास्त्रविहित छह कर्तव्योंमेंसे तीन उसके धर्मरूप कर्तव्य होते हैं और तीन आजीविकारूप. यथा-

(१) यजन (२) अध्ययन (३) दान = धर्मरूप कर्तव्य हैं.

(४) याजन (५) अध्यापन (६) प्रतिग्रह = आजीविकारूप कर्तव्य हैं.

आज तो इसका विपर्यास ही दुर्दैवविपाकवश सर्वत्र उपलब्ध होता है. अर्थात् यजन-अध्ययन-दान आजीविकार्थ अनुष्ठित होते दिखलाई देते हैं; तथा परमधर्मबुद्ध्या कहीं याजन-अध्यापन-प्रतिग्रह तीनोंका ही अथवा तीनोंमेंसे किसी एकपर ही भारपूर्वक टिके रहनेका दुराग्रह रखा जा रहा है. यदि याजनकी तरह यजन भी एक आजीविकाका उपाय होता तो उसके धर्मतया पृथक् उल्लेखकी कोई आवश्यकता ही नहीं थी. इनका पृथक् पृथक् उल्लेख स्वयंमें उस तथ्यका,

विमर्शकारके लिये नितान्त भीषक, घण्टाघोष है कि प्रत्येक ब्राह्मणको सामान्यतया अपनी शास्त्रविहित अथवा शास्त्रानिषिद्ध आजीविकासे ही उपार्जित शुक्लवृत्तिसे यजन करना चाहिये. आपद्वृत्तितया भी अन्तरित या अनन्तरित वृत्तिओंके बारेमें किसी भी तरहके प्रयास किये बिना,सहसा अपने धर्मका विक्रय अर्थात् वृत्त्यर्थ यजनका कल्प अपना लेना, एक अक्षम्यतम महासाहस है. यजन=धर्मरूप कर्तव्यके आजीविकातया अनुष्ठान किये जानेपर वह कपटरहित धर्म नहीं रह जाता. यह तो एक ऐसी बात हुई कि शास्त्रमें जो दानको ब्राह्मणका 'नित्यकर्मरूप धर्म' कहा, तदर्थ गामसे चंदा उगाहना और बादमें सौ रुपयोमेंसे २५-५० रुपयोंका दान कर देना, सो भी सार्वजनिक प्रदर्शनद्वारा ! अध्यापनको जो आजीविका कहा तदर्थ स्वयं शास्त्र पढ़ने नहीं पर शास्त्रिओंको नौकरीपर रखकर कॉचिंग क्लासिस चलानेका व्यापार करने लग जाना !

इसी अर्थाभिनिवेशितासे बचनेके लिये शास्त्रने विहित होनेपर भी प्रतिग्रहके बारेमें अतिशय सावधानी बरतनेकी बात समझाई है:

मूल:प्रतिग्रहाद् याजनाद् वा तथैवाध्ययनादपि।

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः।।

याजनाध्यापने नित्यं क्रियते संस्कृतात्मनाम्।

प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्तजन्मनः।

जपैर्होमैरपेत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम्।।

प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च।

शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन् यतस्ततः।।

प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोप्युञ्छः प्रशस्यते।

व्याख्या:गर्हितानामपि अध्यापनयाजनप्रतिग्रहाणां मध्याद् ब्राह्मणस्य असत्प्रतिग्रहो निष्कृष्टः परलोके नरकहेतुः. ततश्च आपदि प्रथमं निन्दिताध्यापनयाजनयोः प्रवर्तितव्यं तदसम्भवे तु असत्प्रतिग्रहे -इति एवंपरम् एतत्. याजनाध्यापने आपदि अनापदि च उपनयनसंस्कृतात्मनां द्विजातीनामेव क्रियते. प्रतिग्रहः पुनः निकृष्टजातेः शूद्रादपि क्रियते. तस्माद् असौ ताभ्यां गर्हितः, एनोः ग्रहणाद्. असत्प्रतिग्रहयाजनाध्यापनैः यद् उपपन्नं पापं प्रायश्चित्तप्रकरणे वक्ष्यमाणक्रमेण जपहोमैः नश्यति. असत्प्रतिग्रहजनितं पुनः प्रतिग्रहीतद्रव्यत्यागेन ''मासं गोष्ठे पयः पीत्वा''

इत्येवमादिवक्ष्यमाणतपसा अपगच्छति. ब्राह्मणः स्ववृत्त्या अजीवन् यतस्ततोपि शिलोञ्छं गृह्णीयात् नतु तत्सम्भवे असत्प्रतिग्रहं कुर्यात्. यस्माद् असत्प्रतिग्रहाद् शिलः प्रशस्तः. मञ्जर्यात्मकानेकधान्योन्नयनं शिलः ततोपि उञ्छः श्रेष्ठः. एकैकधान्यादिगुडकोच्चयनम् उञ्छः (मन्वर्थमुक्तावली १०।१०९-११२).

अर्थात् अनधिकारीको याजन या अध्यापन करानेसे भी अधिक निन्दनीय है- असत्प्रतिग्रह, नरकप्रापक होनेके कारण. अतः आपद्वृत्तिके रूपमें भी असत्प्रतिग्रह करनेके बजाय तो अनधिकारीको भी याजन-अध्यापन कराकर जीवननिर्वाह कर लेना अनुचित नहीं है. क्योंकि याजन-अध्यापनके द्वारा आजीविकाके उपार्जनमें, कमसे कम, इतना नियम तो निभ ही जायेगा कि जिनके उपनयनादि संस्कार हो चुके हों उनसे कर्मदक्षिणा या गुरुदक्षिणा मिलेगी. प्रतिग्रहमें तो यह अंकुश भी बच नहीं सकता. अनधिकारीको याजन या अध्यापन करानेसे जो पाप लगता है उसका परिहार स्वयंकृत जपहोमसे शक्य है. प्रतिग्रह करनेके कारण, परन्तु, लगे पापसे छुटकारा तो त्यागतपसे ही शक्य हो पाता है. अपनी याजन-अध्यापनकी वृत्तिसे निर्वाह न चल पाता हो तो मार्गमें गिरे हुए धान्यके दानोंको बीन-चूनकर पेट भर लेना चाहिये परन्तु असत्प्रतिग्रह तो करना ही नहीं चाहिये.

अतएव कहा गया है कि ''पावका इव दीप्यन्ते जपैर्होमैः द्विजोत्तमाः प्रतिग्रहेण नश्यन्ति वारिणा इव पावकाः'' (अत्रिस्मृ. पृ.१९) अर्थात् जप तथा होमके कारण अग्निकी तरह दीप्तिमान होते द्विजोत्तम भी प्रतिग्रहकी बरसातसे बिलकुल बुझसे जाते हैं.

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि याजनका बहाना बनाकर किसी भी तरहके सदसद्के विवेकके बिना जिस-किसी दातासे धनादिका प्रतिग्रह कर लेना शास्त्रकी कल्पनामें भी न आनेवाला ब्राह्मणत्वका अधःपात है. तो जहां शास्त्रानुमत होनेपर भी केवल प्रतिग्रहकी ही इतनी कठोर निन्दा की गई हो वहां यजनको निमित्त बनाकर निषिद्ध प्रतिग्रह करनेकी निन्दनीयताके बारेमें तो कहना ही क्या!

अतएव मनुस्मृति स्पष्ट शब्दोंमें विधान करती है कि ब्राह्मणके लिये यह आवश्यक है कि वह शठता या कुटिलता को अपनाये बिना अपनी शुद्ध ब्राह्मण आजीविकाद्वारा ही देहयात्रा चलाये-

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम्।।

(मनुस्मृ. ४।११).

साथ ही साथ मनुने यह भी स्पष्ट किया है कि धन होनेपर भी यथाकथञ्चिद् अविहित-निषिद्ध सभी तरहके उपायोंसे केवल धन ही बटोरते रहनेकी वृत्तिपर ब्राह्मणको काबू पाना चाहिये-

नेहेतार्थान् प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः।।

(मनुस्मृ. ४।१५).

आज वैसे द्विजवरके वंशज होनेके दावेके साथ साथ हम जितने उपायोंसे केवल अर्थसंग्रह ही कर रहे हैं उसका थोड़ा-बहुत खयाल कितने तरहकी भेंट हमारी हवेलिओंमें भगवद्दर्शनार्थ आती जनतासे हम उगाहते हैं इससे मिल सकता है:

मोटे तौरपर कुछ भेंट हम (क) अपने ही किसी न किसी निमित्तके वश स्वयं अपनेलिये लेते हैं. (ख) बहुत सारी भेंट अपने ठाकुरजीके कुछ न कुछ निमित्त बनाकर ठाकुरजीकेलिये लेते हैं;अन्ततःजिनका पर्यवसान हमारे ही उपभोगार्थ होता है. (ग) कुछ भेंट हम सीधे नहीं लेते परन्तु व्यवस्था ऐसी खड़ी कर रखते हैं कि हमारे नौकरोंका तामझाम उन-उन भेंटोंसे बना रहे ताकि कम पगारपर भी हमारे यहां काम करने नौकर लालायित रहें. (घ) इन भेंटोंके अलावा तीर्थ-गाय-कीर्तनादिकी भेंटके प्रकार भी अनेक हैं ही.

(क) इस प्रथम प्रकारके अन्तर्गत ही देखें तो चरणभेंट, तपेलीभेंट, जन्मदिनकी भेंट, यज्ञोपवितप्रस्तावकी भेंट, विवाहप्रस्तावकी भेंट, किसी वैष्णवके दिवंगत होनेपर कहाड़ीभेंट, किसी गो.बालकके नित्यलीलामें प्रविष्ट होनेपर कड़वाभेंट, पधरामणीभेंट, केशरस्नानभेंट, प्रदेशभेंट, दानके दिनोंमें दान, मनोरथकी आज्ञा देनेकी भेंट, अष्टाक्षर-ब्रह्मसम्बन्धकी कंठी देनेकी भेंट, ठाकुरजी पुष्ट कर देनेकी भेंट आदि आदि.

(ख) फूलघर-शाकघरमें फूलपानफलशाककी भेंट, भण्डारमें घी-तेल-आटा-दाल-चावल-चीनी आदि सामग्रीकी भेंट, मंगला-पलना-राजभोग-फूलमण्डली-हिंडोला-कुण्डवारा, छप्पनभोगादि अनेकानेक मनोरथोंकी भेंट, सन्मुखभेंट, ब्रह्मसम्बन्ध लेते समय वैष्णवोंको करनी पड़ती ठाकुरजीकी सन्मुखभेंट, प्रसाद लेते समय वैष्णवोंको हमें देनी पड़ती प्रसादकी न्योछावरभेंट, वैष्णवके

माथे बिराजते ठाकुरजीके हमारे घर लौटनेपर उन्हें पुनः हवेलीकी ग्वालमण्डलीमें पधराने हो तो उनके चांदी-सोना-शृंगाराभूषणकी भेंट, जिन बैठक हवेलिओंको हम स्वयं नहीं चला सकते उन्हें ठेकेपर उठानेके कारण मिलती धनराशि आदि.

(ग) ब्रह्मसम्बन्ध लेनेके स्नान कराते समय जलघड़ियाकी सेवकीभेंट, ठाकुरजीके दर्शनके लिये झापटियाको मिलती सेवकीकी भेंट, ठाकुरजीके प्रसादको वैष्णवके घर पहुंचानेको समाधानीको या भीतरियाको मिलती समाधान या सेवकी की भेंट, गोस्वामिओंके उच्छिष्ट (अधरामृत) पहुंचानेवाले खवास या जलघड़ियाको मिलती सेवकीकी भेंट आदि.

(घ) सोमयाग, सर्वोत्तमयाग, यमुनायाग, श्रीनाथजीकी ध्वजा पधराना, ब्रजयात्रा, ढाढीलीला, मालापहरामणी, बैठकोंमे तपेली, गौशालामें घास-लापसीकी भेंट आदि.

इतने सारे प्रकारोंसे मिलती भेंटोंको देखनेके बाद लगता है कि लघुशंका या शौच जानेकी भेंट नहीं लेते हैं यह हमारा साधारण नहीं बल्कि असाधारण वैराग्य है. अन्यथा क्या छूटता है! कहां ''नेहेतार्थान् प्रसंगेन''का ब्राह्मणत्वका आदर्श और कहां हमारेद्वारा घड़े गये अनेकानेक भेंट-सामग्रीके प्रकार! माना कि इनमेंके सभी प्रकार अनुचित ही हैं ऐसा नहीं परन्तु फिर भी इतने सारे प्रकारोंके विद्यमान रहते कमसे कम अपनी भगवत्सेवाको यदि धन कमानेका साधन न बनायें तो कोई खास आर्थिक नुकसान तो नहीं होना चाहिये था. और यदि होता भी हो तो ''नेहेतार्थान् विरुद्धेन कर्मणा''की शास्त्राज्ञाको शिरोधार्य करके वह नुकसानी सहन कर लेनी चाहिये थी. परन्तु . . .

स्वयं विद्यातपोनिरतताके कारण प्रतिग्रहार्थ समर्थ होनेपर भी वैसे तो प्रतिग्रह न करना ब्राह्मणके लिये एक आदर्श बात है. क्योंकि केवल प्रतिग्रहसे ब्रह्मतेज क्षीण होने लग जाता है. किसी भी सूरतमें प्रतिग्रह करनेकी जो धर्म्य विधि है उसे समझे बिना तो भूखे होनेपर भी धन न लेना ही ब्राह्मणके लिये श्रेयस्कर होता है. क्योंकि सोना-भूमि गाय-घोड़े-अन्न-वस्त्र घृत-धान्य आदिका प्रतिग्रह करनेवाला यदि अपठित ब्राह्मण हो तो वह सूखी लकड़ीकी तरह भस्म हो जाता है. (द्र. मनुस्मृ. ४।१८६-१८८). जबकि शास्त्राध्ययन तथा शास्त्रीय विषयके निरूपण को अधिकांश गोस्वामी आजकल ''ज्ञानका अजीर्ण'' समझते हैं, भेंट बटोरनेकी कुत्सितवृत्तिको भिखारीपनका अजीर्ण नहीं!

प्रतिग्रहनिन्दाके सन्दर्भमें एक यह स्पष्टीकरण भी आवश्यक है कि क्षुधापीड़ित गुरु (माता-पिता-उपाध्यायादि गुरुजन) तथा भृत्य (पत्नी-सन्तति-पशु आदि पोष्यजन) जनकी भूख मिटानेको अथवा देवपूजनार्थ या अतिथिसत्कारार्थ पतितोंको छोड़कर किसीसे भी ब्राह्मण प्रतिग्रह कर सकता है -यह शास्त्रानुमत है. उस प्रतिग्रहीत अन्न-वस्त्रादिको परन्तु स्वयंके उपभोगमें लाना नहीं चाहिये:

गुरून् भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन् अर्चिष्यन् देवतातिथीन्।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयात् नतु तृप्येत् स्वयं ततः।।

इस विशद विवरणसे इतना तो सर्वथा स्पष्ट हो ही जाता है कि याजन या अध्यापन में भी पात्रापात्रके विवेक रखे बिना भी धनोपार्जनकी शास्त्र छूट देता है परन्तु अकारण प्रतिग्रहकी छूट तो नहीं देता. ऐसी स्थितिमें या तो हमें स्वीकारना चाहिये- हमारी भगवत्सेवा धर्म न होकर केवल आजीविका ही है. अर्थात् हम देवलक ही हैं. यदि हमारी भगवत्सेवा हमारा धर्म है, हमारी आजीविका नहीं, तो भगवत्सेवाको निमित्त बनाकर जो भी प्रतिग्रह हम करते हैं, नित्य-आपद्-वृत्ति(!)तया, उसमेंसे स्वोपभोग हमें करना नहीं चाहिये. क्योंकि वह निन्द्यतम प्रतिग्रह है. अर्थात् आपद्वृत्तितया भी कमसे कम अपने यजन-पूजनरूप धर्मको तो आजीविकाके निम्नतम स्तरपर तो कथमपि धकेलना नहीं चाहिये.

भागवतके तृतीय स्कन्धके १२वें अध्यायके- ''आश्रमांश्च यथासंख्यमसृजत् सह वृत्तिभिः...न्यासः कुटीचकः पूर्वब्रह्मोदो हंसनिष्क्रियौ'' (४१-४३) श्लोकोंमें चारों आश्रमोंकी चार-चार वृत्तिओंका निरूपण किया गया है. इनकी विस्तृत व्याख्या भी सुबोधिनीजीमें दी गई है. विशेष जिज्ञासुओंके लिये उस विषयका अवगाहन वहींसे कर लेना उचित है. फिर भी स्वगृहमें स्वतनुवित्तपरिजनोंके विनियोगपूर्वक की जाती भगवत्सेवाके लिये महाप्रभुने जो नीति अपनायी है वह यों है- ''एतत् सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम् अन्येषां सम्भवेत् तु स्यात् यतेः पर्यटनं वरम्. गृहस्थस्य एतत् मुख्यम्...ब्रह्मचारिप्रभृतीनामपि सेवकसाधनसम्पत्तौ एतत् कर्तव्यम्. अन्यथा अन्यएव उपायः कर्तव्यः...संन्यासिनस्तु पूर्वापेक्षयापि अग्रिमएव उत्तम एवम् इति आहः यतेः पर्यटनं वरम्'' (त.दी.नि. सर्वनि. प्रका. २४६). अनुवाद: सेवा आदिका यह सारा प्रकार गृहस्थकेलिये समझाया गया है. अन्य ब्रह्मचारी या वानप्रस्थी आदिकेलिये भी यदि शक्य हो तो उन्हें अपना लेना चाहिये. संन्यासीके लिये तो पर्यटन ही श्रेष्ठ होता है. अर्थात् ब्रह्मचारी आदिको भी, सेवक साधनोंसे सम्पन्न होनेपर, गृहस्थकी तरह ही अपने माथे बिराजते

स्वरूपकी सेवामें परायण हो जाना चाहिये. यदि सेवक-साधनोंसे ब्रह्मचारी आदि सम्पन्न न हों तो अन्य उपाय अपनाने चाहिये. संन्यासीकेलिये तो पर्यटन ही श्रेष्ठ उपाय होता है.

यहां यह अवधेय है कि ब्रह्मचारीके दो प्रकार होते हैं: साधारण ओर नैष्ठिक. साधारण ब्रह्मचारी गुरुके पास निवास करता है. अध्ययनकालमें उसकी गुरुके द्वारा अभ्यनुज्ञात(=छूट देनेपर) सायं-प्रातः भिक्षाकी आजीविका मान्य की गई है:

गुरुवर्जं गुणवत्सु भैक्ष्याचरणम्. (विष्णुस्मृ. २८)

सायं प्रातः चरेद् भैक्षं भोज्यार्थं संयतेन्द्रियः. (लघु हारीतस्मृ. ३।७).

नैष्ठिक ब्रह्मचारी गुरुके ही समीप आजीवन रहनेका, अर्थात् विवाहार्थ अपने घर जानेके बजाय आजीवन ब्रह्मचर्यका, व्रत लेकर आजीवन भिक्षावृत्तिसे निर्वाहका भी व्रत ग्रहण करता है. गुरुके न रहनेपर गुणान्वित गुरुपुत्र गुरुपत्नी अथवा गुरुके अन्य निकट सम्बन्धिओंके समीप उनके द्वारा अभ्यनुज्ञात भिक्षावृत्तिसे वह निर्वाह करता है. इनमेंसे कोई भी उपलब्ध न हो तब स्वतन्त्रतया भी भिक्षावृत्तिसे वह निर्वाह कर सकता है. ऐसी स्थितिमें अपनी भिक्षावृत्ति इतनी पर्याप्त हो कि सेवकादि साधनको निभा सके तो महाप्रभु उसे भगवत्सेवाकी छूट देना चाहेंगे, अन्यथा नहीं.

इसी तरह वानप्रस्थाश्रममें वन्य फल-मूलके आहारद्वारा जीवननिर्वाहका नियम है, भिक्षाद्वारा नहीं. वैसे सत्प्रतिग्रहकी अनुमति अवश्य है. अतः यहां भी ब्रह्मचारीकी तरह ही शक्य होनेपर भगवत्सेवाकी अनुमति महाप्रभुने प्रदान की है.

संन्यासीके लिये तो प्रायः पर्यटन ही श्रेष्ठ होनेसे भगवत्सेवा अप्रासंगिक मानी गई है. वैसे आजीविका संन्यासीकी भी भिक्षा ही मान्य है. यह भिक्षा वह अपने ही परिवार अथवा कुल अथवा किसी भी द्विजकुल अथवा अन्तमें अवधूतचर्यामें यदृच्छया जहांसे भी उपलब्ध हो वहांसे ग्रहण कर सकता है - ऐसा कल्प शास्त्रानुमत है. किसी भी सूरतमें इन तीनों आश्रमवालोंको भी देवद्रव्योपभोगद्वारा या देवलकताद्वारा जीवननिर्वाहकी कोई शास्त्रानुमति नहीं है.

इन अनापद्वृत्तिओंके अलावा आपद्वृत्तिओंका भी शास्त्रमें निरूपण मिलता है. यथा आपद्वृत्तिके रूपमें ब्राह्मण क्षात्रवृत्ति अथवा वैश्यवृत्ति द्वारा भी जीवननिर्वाह चला सकता है.

मूल:अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः।।
उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्याद् इति चेद् भवेद्।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद् वैश्यस्य जीविकाम्।।
वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोपि वा।
हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत्।।
इदं तु वृत्तिवैकल्यात् त्यजतो धर्मनैपुणम्।
विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम्।।
सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैस्सहः।
अश्मनो लवणं चैवं पशवो ये च मानुषाः।।
सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च।
अपि चेत् स्युररक्तानि फलमूले तथौषधी।।
अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः।
क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुणं कुशान्।।
आरण्यांश्च पशून्सर्वान् दंष्ट्रिणश्च वयांसि च।
मद्यं नीलं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफांस्तथा।।
सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात्।।

(मनुस्मृ. १०।८१-९२).

अनुवाद: ब्राह्मणार्थ विहित आजीविकामें यदि किसी ब्राह्मणका निर्वाह असम्भव हो जाय तो क्षत्रियवृत्तिद्वारा उसे अपना निर्वाह चलानेकी छूट है. यदि ब्राह्मणवृत्ति अथवा क्षत्रियवृत्ति दोनोंमे ही किसी न किसी तरहकी कठिनाई आती हो तो कृषिगोरक्षव्यापारकी वैश्यवृत्तिको भी अपनाया जा सकता है (स्वयमेव कृषक बन जाना ब्राह्मणकी आपद्कालीन कृष्णवृत्ति है तथा अन्य कृषकोंसे कृषिकर्म करवा लेना अनापद्कालीन मृतवृत्तितया अनुमत है). वैश्यवृत्तिसे निर्वाह चलानेवाले ब्राह्मणको भी हिंसाप्राय पराधीन कृषिकर्मसे यत्नपूर्वक बचना चाहिये. इसी तरह वाणिज्यमें भी रसोंके या पक्वान्न (आधुनिक पुष्टिमार्गीय

मन्दिरोंमें बेचे जाते पूड़ी मठड़ी लड्डु मोहनथाल दालभात रोटीशाक जैसों)के या तिलधान्यके, पत्थर नमक पशु मनुष्य (दास-दासी) के व्यापार करनेसे भी बचना चाहिये. सूती-रेशमी-ऊनी वस्त्रोंके फल-ूल-औषधि जल शस्त्र विष मांस सोम गन्ध क्षीर शहद् दही घी तैल मोम गुड़ कुशा -इनके व्यापारसे भी ब्राह्मणको बचना चाहिये. मांसविक्रय लाखविक्रय लवणविक्रय करनेपर विक्रय करनेके साथ ही ब्राह्मणका अधःपात हो जाता है. क्षीरविक्रय करनेपर (जैसे पुष्टिमार्गीय हवेलिओंमें बेचा जाता है) तीन दिनके भीतर ब्राह्मण शूद्र बन जाता है.

स्पष्ट है कि इन आपद्वृत्तिओंके अपनानेके बावजूद अपने यजन-अध्ययन-दानरूप धार्मिक कर्तव्योंके निर्वाहसे चूकना नहीं चाहिये. शास्त्रमें आपद्वृत्तिको भी केवल तीन पीढ़ी तक अपनानेकी छूट दी गई है. पश्चात् वृत्तिके अनुसार वर्णान्तरका नियम भी दिखलाया गया है.

किसी भी स्थितिमें यजन-अध्ययन-दानरूप धर्मोंके आजीविकार्थ उपयोगकी, अर्थात् इनके कपटपूर्ण अनुष्ठानकी, बात शास्त्रमें उपलब्ध होती ही नहीं है.

पुष्टिमार्गमें भी यजनके स्थानपर भगवत्सेवाको ही आत्मधर्मदृष्ट्या मुख्यतया मान्य किया गया है. वैसे कलिकालके प्रभाववश वर्णाश्रमधर्मोंका यथोचित अनुष्ठान अशक्यप्राय हो गया है - इस गौण हेतुके वश भी भगवत्सेवाको ही प्रमुख कर्तव्य माना गया है. इसी तरह द्विजमात्राधिकारक वेद-वेदान्त-पुराण-इतिहास आदि शास्त्रोंके अध्ययनके स्थानपर सर्वाधिकारक पुष्टिमार्गीय ग्रन्थोंके अध्ययनको भी यदि ले लिया जाय, तब भी इनका आजीविकार्थ अनुष्ठान वर्जित ही मानना पड़ेगा. आपद्वृत्तिके अनुकल्पोंके रहते अविहित कल्पका अंगीकार श्रौतदृष्टिसे ब्राह्मण्यलोपको वज्रलेपायित करनेवाला ही होगा, पूर्वोक्त ''न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन, अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम्'' (मनुस्मृ. ४।११) वचनके आधारपर. अतः पुष्टिमार्गीय गोस्वामी महानुभावोंको या तो अपने ब्राह्मण्यका विलोपन अथवा भगवत्सेवाका आजीविकातया अनुष्ठान -इन दोनोंमेंसे एकतरका चयन करना ही पड़ेगा. दोनों एकसाथ नहीं चल पायेंगें.

यह यजन किसी देवताविशेषको उद्देश्य करके अग्निमें दी गई आहुति ''देवतायै इदं न मम''तक ही केवल सीमिततया लिया नहीं जा सकता है. क्योंकि व्याकरणके अनुसार '' 'यज' = देवपूजासंगतिकरणदानेषु'' अर्थ मान्य किया गया

है. अतः देवतोद्देश्यक-देवसम्प्रदानक दान या त्याग की तरह देवताकर्मक अर्चन भी 'यज'का अर्थ हो सकता है. अतएव ''अर्चिष्यन् देवतातिथीन्'' शब्दप्रयोग स्मृतिकारने किया है.

कुछ अपठित महोदय आजकल एक विचित्र बात जनतामें प्रचारित कर रहे हैं कि न तो श्रीकृष्ण देवता हैं और न उनकी सेवाके लिये प्रतिग्रहीत ''हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम् प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत्'' (मनुस्मृ. ४।१८८)* देवद्रव्य ही हो सकते हैं. ऐसी स्थितिमें खुदके लिये नहीं परन्तु कृष्णसुखजनिका सेवाकेलिये यदि हम याचित या अयाचित जैसे भी हो, परद्रव्य लेकर बादमें स्वयं भी प्रसादतया उपभोग करते हों तो इससे आचार्यवंशज देवद्रव्योपभोगी या देवलक ही बन जाते

---

*सोना भूमि घोडा गाय अन्न वस्त्र तिल घृत का दान-भेंट लेनेवाला यदि विद्वान न हो तो सूखी लकडीकी तरह भस्मसात् हो जाता है.

हैं -ऐसे नहीं कहा जा सकता है.

इन्हें ''वन्दे श्रीकृष्णदेवं'' (सुबो. १।१।१) ''एको देवो देवकीपुत्रएव...कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा'' (त.दी.नि. शा.प्र. ४) ''भक्तिस्वरूपमाह...स्नेहो=भक्तिः, रतिः देवादिविषयिणी भाव इत्यभिधियते, रतिः=स्नेहो, देवत्वं=माहात्म्यम्. तद् आत्मत्वेन ज्ञाते भवति. तेन भजनार्थमेव आत्मत्वेन तन्निरूपणं माहात्म्यं च उच्यते.'' (त.दी.नि. शा.प्र. ४२) - इन मूलवचनोंका ज्ञान ही नहीं है.*

यदि द्रव्य या धन के सन्दर्भमें श्रीकृष्णका देवत्व अविवक्षित माना जाता है तो भक्तिके सन्दर्भमें भी देवत्व अविवक्षित मानना पड़ेगा. तो तब जो कुछ हम सेवाके नामपर कर रहे हैं वह 'भक्ति' नहीं रह जायेगी. क्योंकि देवविषयिणी रतिको ही 'भक्ति' कहा जाता है.

वैसे तो इन अपठितोंके विधानोंका विचार करना भी अपनी लेखनीकी स्याहीका दुरुपयोग है. फिर भी क्योंकि ये अपठित महाप्रभुके वंशज हैं अतः इनकी बातको जनता पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तके रूपमें मान्य करती है सो लिखना पड़ता है.

अपठित अपना बचाव कभी-कभी यह भी देते हैं- ''श्रीकृष्णको 'देव' कहनेका तात्पर्य उनके देवाधिदेव होनेमें है.'' तब तो सिद्ध हो जाता है कि देवपूजनको आजीविका बनानेवाला यदि चाण्डालोपम पतित देवलक होता है तो देवाधिदेव श्रीकृष्णकी सेवाको आजीविका बनानेवाला चाण्डालसे भी अधिक अपवित्र महापतित देवलकाधम देवलक अर्थात् जघन्यतम देवलक सिद्ध हो जायेगा ! जैसे अपुरुष पुरुषोत्तम नहीं हो सकता या जैसे अविद्वान विद्वदुत्तम नहीं हो सकता ऐसे ही अदेव देवोत्तम = देवाधिदेव हो नहीं सकता !!

इस सन्दर्भमें सैद्धान्तिकी स्पष्टताके हेतु भक्तिहंसगत प्रभुचरणके ये वचन नितान्त मननीय हैं:

मूल: नवविधभक्तौ अर्चनस्यापि उक्तत्वात् कथं पूजायाः तथात्वमिति चेत्. अत्र वदामः - श्रवणादिनवकमपि अधिकारिभेदेन क्रियमाणं सत् कर्मज्ञानोपासनाभक्तिमार्गीयत्वेन अनेकविधं भवति. तथाहि - श्रीभागवत-

---

*''श्रीकृष्णदेवको मेरे नमस्कार.'' ''देवकीपुत्र श्रीकृष्ण ही मुख्यदेव हैं...उन श्रीकृष्णदेवकी सेवा ही मुख्य कर्म हैं.'' ''भक्तिका स्वरूप कहते हैं...भक्ति स्नेह है. देवादिके बारेमें जो रति होती है उसे 'भाव' कहा जाता है. रति = स्नेह. देव होना माहात्म्य है. वह अपनी आत्माके रूपमें जाननेपर होता है, अतः भजनार्थ ही उसका माहात्म्य कहा जाता है तथा आत्माके रूपमें निरूपण किया जाता है.''

सहस्रनामादिश्रवणकीर्तनयोः फलत्वेन हि चत्वारोपि अर्था उच्यन्ते. तत्र त्रिवर्गकामेन क्रियमाणः श्रवणादिः कर्ममार्गीयएव. तत्रापि अर्थाद्यर्थिभिः विहितत्वेन कृतः चेत् तदा स तथा. वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवत् लौकिकएव, शौचार्थिगंगास्पर्शवत् च. नहि तस्य मलनिवृत्त्यतिरिक्तो धर्मः उत्पद्यते प्रत्युत निषिद्धाचरणात् पापमपि. एतेन विहितजातीयं कर्म यथाकथञ्चित् कृतम् उक्तफलाय इति निरस्तम्'' (भक्तिहंस).

अनुवाद: नवविध भक्तिमें पूजादि गिनाई गई हैं अतः पूजाको भी भक्तिके रूपमें मान्य करना चाहिये - ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये. क्योंकि श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वन्दन दास्य सख्य आत्मनिवेदन रूप नवक भी अधिकारिभेदवश कर्मरूप ज्ञानोपासनारूप अथवा भक्तिरूप यों अनेकविध हो सकते हैं. स्वयं श्रीभागवत-

विष्णुसहस्रनामादिके श्रवण-कीर्तन करनेसे फलरूपेण धर्मार्थकामकी सिद्धि होती है ऐसा कहा गया है. ये श्रवणादि, परन्तु, कर्ममार्गीय ही होते हैं. वहां भी द्रव्यकामना जैसी क्षुद्र विषय-कामनाओंको पूरी करने या कीर्तिप्राप्तिके लिये किये गये श्रवणादि, यदि विधिके अनुसार किये जाते हों, तभी कर्ममार्गीय कहे जा सकते हैं. अन्यथा वृत्त्यर्थ श्रवणादि तो खेतीवाड़ीकी तरह सर्वथा लौकिक कर्म ही होते हैं; और शौचार्थी मलनिवृत्तिके लिये जैसे गंगाजलका उपयोग करता हो, ऐसी गंदी बात बन जाते हैं. ऐसे हीन काममें पवित्र गंगाजलका प्रयोग मलप्रक्षालनके अलावा और क्या फल दे पायेगा ? वास्तविकता तो यही है कि निषिद्धाचरण करनेके कारण पाप ही इन्हें लगता है. विहितकर्मको यथाकथञ्चित् करनेमात्रसे विहितफल होता है - इस धारणाका इससे निरास हो जाता है.

यहांपर व्याख्या करते हुए श्रीरघुनाथजीने यह खुलासा दिया है कि अर्थार्थी शास्त्रविहित कर्मका अनुष्ठान यथाविधि करता है जबकि वृत्त्यर्थी जो कर्म वृत्त्यर्थ विहित नहीं है, प्रत्युत निषिद्ध ही है, उसे वृत्त्यर्थ अर्थात् आजीविकाके रूपमें करता है. अतः वह धर्मरूप होनेके बजाय निषिद्ध लौकिक कर्म बन जाता है.

श्रीपुरुषोत्तमजीने यहां व्याख्यामें 'अर्थादि'में 'आदि'पदके अर्थतया क्षुद्र कामनाओंको पूर्ण करनेकी इच्छा अथवा कीर्ति पानेकी इच्छा को लिया है. इसी तरह 'वृत्त्यर्थं'पदमें 'वृत्ति'का अर्थ भी अविहित रीतिसे कामनापूर्ति और गाममें पुजनेकी वृत्तिके उपलक्षणतया स्वीकारना चाहिये - यह कहा है.

वैसे यही बात दिनांक १०-१३ जनवरीको पार्लामें आयोजित पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें मेरे तथा चि.हरिरायजी (जामनगर) के बीच सिद्धान्तमुक्तावलीप्रकाशपर योजित पूरकांशके बारेमें हुई थी. तब चि.हरिरायजीने ''नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं'' का कुशकाशावलम्बन कर वृत्त्यर्थीको देवलक नहीं माना. वित्तार्थीको देवलक तथा वृत्त्यर्थीको अनिषिद्ध लोकार्थी माना था (द्र. विस्तृत विवरण पृ. २२७). जहां तक चि.हरिरायजीके विधानोंका सवाल है, वह तो उनके स्वमार्गीय सिद्धान्तग्रन्थोंके नहींवत् अभ्यास तथा निरंकुश कल्पना करनेवाले कविजनोचित सामर्थ्यके अनुरूप ही था ! चि. हरिरायजीको, परन्तु, ''पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणि'' की पदवीसे विभूषित करनेवाले विमर्श(पृ.

१५-५९)कारने तथाकथित 'सिद्धान्तसंरक्षण'के उत्तरदायित्वसे छटक जानेकी वृत्तिको अब उजागर किया है!

वैसे यह एक हकीकत है कि तब (पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा, पार्ले १०-१३ जनवरी'९२में) भी श्रीवल्लभरायजी (सुरत)ने अतीव सावधानीसे चुने हुए शब्दोंमें कहा था- ''लेकिन मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है कि जो यहां भावानुवादके सन्दर्भमें भावानुवादमें जहां जहां भी विचार्यविषय था वहां असहमत होते हुए जो कुछ सिद्धान्तपक्ष प्रतिपादित करना था वो सिद्धान्तपक्ष अपनी दृष्टिसे हमारे सम्प्रदायके विद्वद्वर्य आचार्य श्रीहरिरायजी महाराजने अपनी और अपनी तरफसे; और बड़ा ही उन्होंने प्रशस्त अपनी दृष्टिसे जो कुछ उन्होंने सम्प्रदायके सिद्धान्तको समझा था उसको प्रस्थापित यहां किया.'' (विस्तृत विवरण पृ. २९०).

इस शब्दावलीसे ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं श्रीवल्लभरायजी भी तब चि.हरिरायजीके पक्षको उनकी, अर्थात् चि.हरिरायजीकी ही, समझसे ठीक मान रहे थे, स्वयं अपनी (श्रीवल्लभरायजीकी) समझसे नहीं. फिर भी यथाश्रुत वृत्तान्तके अनुसार ''पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणि'' पदवीपत्रपाठनमें श्रीवल्लभरायजी ही मुखरित हुए थे!

अतएव पूरकांश- ''ननु कश्चिद् जीविकाद्यर्थमपि भजते तस्य का गतिः इत्यत्र आहुः'लोकार्थी'इति. 'लोक'पदेन लौकिको अर्थः उच्यते, तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत् तदा व्यापारवदर्थे सिद्धे तस्यापि, अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव, अतः क्लिष्टो भवति इति अर्थः. न केवलम् ऐहिकः क्लेशः किन्तु परलोकोपि नश्यति निषिद्धाचरणाद्-इति 'सर्वथा' इति उक्तम्. यस्य स्वल्पमपि ज्ञानं स नैवं करोति सर्वथा तद्रहितः कश्चिद् एवं कुर्यादपि इति 'चेद्' इति उक्तम्''* (सि.मु. पृ.४८) -को

---

*यदि कोई जीविका आदिके हेतुवश भजन करता है तो उसकी क्या-कैसी गति होती है -इस प्रश्नका उत्तर 'लोकार्थी'पदद्वारा देते हैं. 'लोक'पदका अर्थ होता है: लौकिक विषय. इसकी कामना रखनेवाला यदि कृष्णका भजन करता

चि.हरिरायजीने अपनी बालकबुद्धिके अनुरूप अविचारणीय माना था वह इतनी विचारणीय कथा नहीं है परन्तु विमर्शकारने अपने ४५ पृष्ठोंके सुविशद देवद्रव्यप्रकरण तथा देवलकप्रकरण में परस्पर प्रतिरूपक इन भक्तिहंस तथा

सिद्धान्तमुक्तावलीप्रकाश के इस पूरकांशपर कुछ भी लिखना आवश्यक नहीं समझा -यह अत्यन्त आश्चर्यकी बात है!

विमर्शकार प्रभुचरणके वचनोंको क्या सिद्धान्तनिरूपणार्थ उपजीव्य नहीं मानते? ''वित्तं दत्वा ...ज्ञापकं समस्तं पदम्'' के विशद विमर्शको देखते हुए यह भी स्वीकारा तो नहीं जा सकता. ऐसी स्थितिमें श्रीयामुनेयाचार्यके आगमप्रामाण्य तथा अन्य भी अनेक तन्त्रवचनोंके अवगाहन-परिश्रम करनेसे पूर्व निजाचार्यकृतग्रन्थस्थ वचनोंके अवगाहनका परिश्रम लेना क्या उचित नहीं होता? उस स्थितिमें यह अत्यधिक आवश्यक हो जाता है कि जब प्रस्तुत 'विमर्श'ग्रन्थ सम्प्रदायके विद्वान वयोवृद्ध आचार्यके नामसे प्रकाशित करवाया गया है!

भूलना नहीं चाहिये कि प्रभुचरणने भक्तिहंसके प्रारम्भमें ही स्पष्टीकरण दे दिया है-

मूल: वैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिर्यः।
अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु स मेऽस्तुसर्वस्वम्।।

अनुवाद: जो भगवान् निजभक्तोंके बीच, वैदिक-तान्त्रिक दीक्षा अर्चनादि के विधिविधानोंके बन्धनमें बंधे बिना रमण करते हैं, वही मेरे सर्वस्व हैं.

यहां यह उल्लेखनीय है कि तान्त्रिक पूजनविधिमें भी वृत्त्यर्थपूजन (करना नहीं प्रत्युत) करवाना यदि दोषरूप न भी माना गया हो, जैसे वैदिक कर्मोंमें यजनको धर्मार्थ तथा याजनको वृत्त्यर्थ माना गया है वैसे ही, वह तन्त्रोक्त पद्धतिसे प्रतिष्ठापित देवमूर्तिके परार्थ-स्वरूपके अनुरूप है. एतावता पुष्टिमार्गके प्रवर्तक आचार्योंके वचनोंकी अवहेलना करके वृत्त्यर्थ भगवद्भजनको धर्म्य मानना क्या साक्षात् आत्मघातरूप विद्रोह नहीं है?

साथ ही साथ यह भी खुलासा दे देना हमारा कर्तव्य बन जाता है कि पुष्टिप्रभु पुष्टिभक्तोंके बीच तन्त्रादिविधिके बन्धनोंमें बंधे बिना रमण

है तो व्यापारकी तरह सफल होनेपर उसके अनर्थरूप ही होनेके कारण ऐसे व्यक्तिद्वारा किया गया भजन भक्तिरूप नहीं होता. अतः ऐसे व्यक्तिद्वारा किया-धरा सब कुछ क्लेशरूप ही होता है. अतः ऐसे भजन करनेवालेको क्लेश ही मिलता है. न केवल ऐहिक क्लेश अपितु निषिद्धाचरणके कारण ऐसोंका परलोक

भी बिगड़ता है. इसीलिये 'सर्वथा' कहा. जिसे अल्प भी ज्ञान होगा वह ऐसे नहीं कर सकता. सर्वथा ज्ञानरहित व्यक्ति ही ऐसा भजन कर सकता है इसलिये 'चेद्' कहा.

करते हैं, एतावता देहाभिमानके निवृत्त होनेसे पूर्व, वैदिक तान्त्रिक पौराणिक स्मार्त विधि-निषेधोंके बन्धनोंसे कोई भी पुष्टिभक्त अपने-आपको मुक्त नहीं मान सकता. अतः श्रौत यजन जैसे वृत्त्यर्थ निषिद्ध है इसी तरह तान्त्रिक पौराणिक या स्मार्त देवार्चन भी वृत्त्यर्थ निषिद्ध ही होता है. श्रौत याजन जैसे वृत्त्यर्थ विहित है वैसे ही तान्त्रिक पौराणिक या स्मार्त देवार्चन करवाना भी तन्त्र-पुराण-स्मृतिविहित होनेपर दोषावह नहीं हो सकता है.

पुष्टिमार्गीय आचार्यवंशज गोस्वामिओंके घरोंमें बिराजमान भगवत्स्वरूप स्वगृहमें स्वधर्माचरणरूप भगवत्सेवार्थ स्वार्थ प्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूप होता है या सार्वजनिक देवालयमें परार्थ प्रतिष्ठापित ? तथाभिनन्दित पु.शि.सं.शि.ने पक्षग्रहण किया था (द्र. विस्तृत विवरण पृ. १५९) - वैष्णवोंके घरोंमें स्वार्थ प्रतिष्ठापित तथा गोस्वामिओंके घरोंमें स्वार्थ-परार्थ उभयार्थ ! वह तो शुद्ध बालबुद्धिवाले कविकी बाललीला ही थी !! परन्तु विमर्शकारने अपना पक्ष इस विषयमें प्रकट किये बिना ही देवद्रव्यप्रकरण-देवलकप्रकरण कैसे लिख मारा है !!!

इसका निष्कर्ष यही निकलता है कि गोस्वामिओंके साथ प्रतिस्पर्धा कर सके ऐसे सार्वजनिक देवालय यदि वैष्णवजन चलाते हैं तो गोस्वामिओंकी आजीविकापर कुठाराघातका भय सता रहा है. अतः वैष्णवोंके सेव्यस्वरूप केवल स्वार्थ ही होते हैं - ऐसा स्वीकार लिया. गोस्वामिओंको सार्वजनिक देवालयमें पूजारि बननेमें भी शर्म आती है, साथ ही साथ भगवत्सेवाको आजीविकार्थ करनेके लोभका संवरण करनेमें भी आज हम अक्षम हो गये हैं, अतः गोस्वामिओंके सेव्यस्वरूप स्वार्थ-परार्थ उभयार्थ होते हैं ! धन्य, धन्य, धन्य !

हमें प्रतीत होता है कि व्यक्तिशः किसी गोस्वामी महानुभावको अपने सेव्यस्वरूपको धर्मार्थ (=स्वार्थ) तथा आजीविकार्थ (=परार्थ) यों उभयार्थ ही मानने हो तो वह मान लें परन्तु क्या यह वाल्लभ सिद्धान्त हो सकता है ? उत्तर है: ब्राह्मण्यविलोपन तथा पुष्टिभक्तिविलोपन के महासाहसके प्रदर्शनार्थ अवश्य हो सकता है, अन्यथा नहीं.

अतएव इस प्रसंगके उपसंहारमें महाप्रभुके इन वचनोंका अनुसन्धान अतिआवश्यक लगता है:

मूल: वर्णाश्रमवतां धर्मः श्रुत्यादिषु यथोदितः।
तथैव विधिवत् कार्यः स्ववृत्त्यन्नेन जीवता।।
आचारो वृत्तिहीनश्चेद् अर्धं फलति नाखिलम्।
अनभ्यासेन वेदानाम् आचारस्य च लंघनात्।।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति।
शिलोञ्छवृत्त्या सन्तुष्टः श्रौतं कर्माखिलं चरेत्।।
तपःस्वाध्यायनिरतो ह्यग्निहोत्रादिपञ्चकम्।

'वर्णाश्रमवताम्' इति. उक्तेनैव प्रकारेण कर्तव्यं न तु अनुकल्पैः. तथा सति प्रत्यवायपरिहारएव भवति न तु फलम् इत्यर्थः. तथा स्ववृत्त्यन्नेनैव जीवता सर्वं साध्यम्. ननु तावन्मात्रएव वैगुण्यम् अस्तु, किं सर्वांशेन इत्यत आह 'आचार' इति. वस्तुतस्तु न फलति इत्याह 'अनभ्यासेन' इति. तर्हि कथं फलति इति आकांक्षायाम् आह 'शिलोञ्छवृत्त्या' इति. असन्तोषे तदपि व्यर्थम् (त.दी.नि. सर्वनि. १८५-११८७).

वृत्त्यन्नावश्यकत्वे किञ्चिद् आशङ्कते 'ननु' इत्यादि. 'सर्वनाशेन' इति सर्वधर्मवैगुण्यकृत-सर्वफलनाशेन. 'आचार' इति. आचारो वर्णाश्रमयोः स्वाभाविको धर्मः. वृत्तिश्च तेषां स्वाभाविकी तत्तद्धर्मपोषकत्वेन तदंगभूता च. अन्यथा तस्य-तस्य सा न उक्ता स्यात्. एवञ्च वृत्त्यभावे स्वाभाविकधर्मव्यंगतायां तस्य कौण्ठ्ये वर्णाश्रमलक्षणहान्या वर्णादिव्यपायेन अधिकारस्य कौण्ठ्याद् अर्धं फलतीति तदभावार्थं सा आवश्यकी इत्यर्थः. 'वस्तुत' इत्यादि. तथाच स्ववृत्त्यन्नाभावे अनभ्यासादिदोषचतुष्टयात् मृत्युः उपैति. स च अत्यन्तविस्मरणरूप इति शरीरं पातयन् स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिं नाशयति. बुद्धिं नाशयन् न आचारं फलितुं ददाति...(आव.भंग.).

भावानुवाद: श्रुत्यादि शास्त्रोंमें निर्दिष्ट प्रकारोंके अनुसार वर्णाश्रमवालोंको, अपनी वृत्तिसे उपार्जित अन्नका ग्रहण करते हुए, यथाविधि अपना धर्म निभाना चाहिये. मुख्य कल्पको छोड़कर अनुकल्पोंका सहारा लेनेपर केवल प्रत्यवायका परिहार हो सकता है परन्तु मुख्यफल नहीं. अतः जिस वर्णाश्रमीकी जो शास्त्रानुमोदित वृत्ति

हो उसके द्वारा ही कमाये अन्नसे जीवननिर्वाह करना चाहिये. यदि कोई अपनी नियतवृत्तिको नहीं निभा पाता और सारे आचारनियम (कुएके जलकी खासा-सेवकीवाली अपरस) निभाता है तब भी ऐसे आचारको अधूरा ही समझना चाहिये. वैसे तो 'अधूरा' कहनेके बजाय इसे 'निरर्थक' कहना ही अधिक उचित है. क्योंकि (१) वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन न करना (२) आचारका उल्लंघन (३) आलस्य (४) अस्ववृत्तिद्वारा उपार्जित दुष्ट अन्नका भोजन - ये विप्रको खतम कर देते हैं. अतः शिलोञ्छादि विहित वृत्तिओं द्वारा उपार्जित अन्नका आग्रह आवश्यक है. उस स्ववृत्तिद्वारा अन्नके उपार्जनमें भी यदि सन्तोष नहीं रखा जाता तो सारा किया-धरा व्यर्थ ही होता है (त.दी.नि. सर्वनि. १८५-१८७).

स्ववृत्तिद्वारा उपार्जित अन्नका भक्षण आवश्यक है. क्योंकि नहीं तो किया-धरा सब चौपट हो जाता है. वर्णाश्रममें आचारकी तरह वृत्ति भी स्वाभाविक होती है, जो तत्तद् वर्णधर्म और तत्तद् आश्रमधर्मों की पोषक तथा अंग होती है. अतः इस वृत्तिके नियमको न निभानेपर वर्ण या आश्रम के धर्म बिगड़ कर वर्ण या आश्रम का स्वरूप ही खण्डित कर देते हैं. अर्थात् (यजनको आजीविकाका साधन बनानेपर) ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं रह जाता या (ब्रह्मचारी-संन्यासीकी तरह भिक्षा मांगनेपर) गृहस्थ गृहस्थ ही नहीं रह जाता. इसलिये अपनी वृत्तिको छोड़ कर उल्लिखित चार दोषोंके कारण ब्राह्मण खतम हो जाता है; इस अर्थमें कि उसे अपने धर्मका भान नहीं रह जाता, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है (खासा-सेवकीकी कुएके जलकी अपरसवाला) सारा आचार बेकार हो जाता है (आवरणभंग).

वैसे व्यक्तिशः ब्राह्मण्यविलोपनके अनेकानेक हेतु आज गिनाये जा सकते हैं. उनकी चर्चा, परन्तु, यहां अप्रासंगिक ही होगी. ब्राह्मण्यविलोपक उन हेतुओंका समर्थन, क्योंकि, जनताके समक्ष खुलकर कोई आचार्यवंशज करता नहीं है. अतः उसे वैयक्तिक स्खलन ही हम भी स्वीकारते हैं. पुष्टिमार्गके ५०० वर्षोंके इतिहासमें, इदंप्रथमतया, विमर्शकारने ही वृत्त्यर्थ भगवद्भजनके धर्म्य होनेकी घोषणा अब निःसंकोच कर दी है! अतः यह विशोधन भी आवश्यक हो गया है.

अतः ब्राह्मणत्वके सन्दर्भमें इस विशोधनके बाद वैदिक गुरुत्वके सन्दर्भमें आजीविकार्थ भगवत्सेवा धर्म्य हो सकती है या नहीं - इस प्रश्नका उत्तर खोजने अब हमें अग्रसर होना है.

सिद्धान्तसार

यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः इति.

- सुबो. २।९।१९.

जो स्वार्थ (वृत्त्यर्थ भूत्यर्थ प्रतिष्ठार्थ) भगवत्सेवन करता हो उसे अधम (ब्राह्मण) समझना चाहिये.

- महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य.

वैदिक गुरुत्व

मूल: उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेत् पश्चाद् शौचाचारांश्च शिक्षयेत्।।
स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति।
आनीय आददद् वेदमाचार्यः स उदाहृतः।।
एकदेशमुपाध्यायः ऋत्विग् यज्ञकृदुच्यते।
(याज्ञ. स्मृ. आचाराध्याय २।१५-३४).
उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यः प्रचक्षते।।१४०।।
एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः।
योध्यापयति वृत्त्यर्थम् उपाध्यायः स उच्यते।।१४१।।
निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधिः।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते।।१४२।।
अग्क्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान्।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते।।१४३।।
य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत् कथञ्चन।।१४४।।
श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेद्।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुसु।।२०७।।
(मनुस्मृ. अध्याय २).

अनुवाद: गुरु शिष्यको उपनयन संस्कारसे संस्कृत करके महाव्याहृतिपूर्वक वेदका अध्यापन करे. पश्चाद् शौचाचारोंका भी प्रशिक्षण दे. जो पिता निषेकादि क्रियाओंको करके वेदाध्यापन करता हो उसे 'गुरु' कहते हैं और पितासे भिन्न कोई उपनयन संस्कारसे दीक्षित करके वेदाध्ययन कराता हो तो उसे 'आचार्य' कहते हैं. वेदके किसी एक देश=हिस्सेको पढ़ानेवालेको 'उपाध्याय' कहा जाता है.

उसी तरह जो द्विजको यज्ञादि कर्म कराता है उसे 'ऋत्विक्' कहा जाता है. (याज्ञ.स्मृ.)

जो द्विज शिष्यका उपनयन संस्कार करके सकल्प सरहस्य वेदको पढ़ाता है उसे 'आचार्य' कहते हैं. वेदके किसी एक हिस्से या वेदांगोंको वृत्त्यर्थ पढ़ानेवालेको 'उपाध्याय' कहा जाता है.विधिवत् गर्भाधान आदि संस्कारोंको करनेके बाद अन्नद्वारा पालन-पोषण करनेवाले पिताको 'गुरु' कहा जाता है. अग्क्याधान, पाकयज्ञ, अग्निष्टोम आदि यज्ञोंको करानेके लिये जिस विप्रका हम वरण करते हों वह 'ऋत्विक्' कहलाता है. जो हमारे दोनों कर्णोंको अवितथ वेदोपदेशसे भरपूर बनाता हो वही हमारी माता है वही हमारा पिता है; उसके साथ कभी द्रोह नहीं करना चाहिये. विद्यातपसे समृद्ध अपनेसे बडे गुरुपुत्र अथवा गुरुके बन्धु-बान्धवोंको भी अपने गुरुके रूपमें ही मान्य करना चाहिये. (मनुस्मृ.).

इस धर्मोपदेशकी प्रक्रियापर दृष्टिपात करनेसे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट गुरुत्वके सोपान समझमें आते हैं. यथा- (१) ऋत्विक् (२) जनकपिता=गुरु (३) उपाध्याय (४) आचार्य

(१) आर्त्विज्य

स्पष्ट है कि ऋत्विक् वह होता है जिसका केवल कर्मानुष्ठानकालमात्रके लिये वरण होता है. अर्थात् हमें कर्मोपदेशद्वारा हमसे कर्मानुष्ठानको सम्पन्न करवानेके लिये जिसका हम वरण करते हैं. एतदर्थ कर्मदक्षिणा प्रदान करनेकी विधि होती है. अतः जैसे न्यायालयमें हमारी बात कहनेको न्यायविद वकीलोंका वृत्त्यर्थ गुरुत्व एवं अभिभाषकत्व होता है, वैसे ही यह वृत्त्यर्थ गुरुत्व भी कर्मानुष्ठानकालमात्रमें सीमित होता है.

यह तो स्पष्ट है कि यह ऋत्विक्पद वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानके सन्दर्भमें ही प्रयुक्त हुआ है. फिर भी तत्स्थानीय अपने मार्गमें भगवत्सेवा है. अतः जैसे श्रौतकर्मोंका अनुष्ठापन कर्मदक्षिणाकी वृत्ति अपनाकर किया जाता है, वैसे ही पुष्टिमार्गीय कर्म भगवत्सेवाका अनुष्ठापन सेवाकी भेंट-न्योछावर लेकर किया जा सकता है या नहीं -यह विचारणीय है. श्रीप्रभुचरण तथा श्रीपुरुषोत्तमजीने इसी विषयका स्पष्टीकरण इन शब्दोंमें दिया है-

मूल: वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा – एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्. एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भावः. (सि.मु.वि.२).

व्याख्या: तत् चेद् वित्तं वेतनत्वेन दत्वा कार्यते तदा सा चित्तस्य राजसत्वं कुर्वन्ती चित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति. यदि च वित्तं वेतनत्वेन गृहीत्वा क्रियते तदा ऋत्विजो यागवत् स्वस्य तत्प्रवणत्वरूपं फलं न साधयति. नच यागो यजमानस्य इव वित्तदातुः फलति इति शंक्यं, तत्र ऋत्विग्दक्षिणावरणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वात्. अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्. तदैव साधनरूपा साध्यरूपां मानसीं सेवां जनयन्ती स्वयमपि पश्चाद् फलरूपतया व्रजस्थानामिव पर्यवस्यति इति (सि.मु.वि.प्र. २).

अनुवाद: किसी दूसरे व्यक्तिको वित्त देकर कराई गई सेवा यह एक प्रकार है और इसी तरह दूसरेका वित्त लेकर की गई सेवा यह दूसरा प्रकार है. इन दोनों प्रकारोंसे की गई सेवा चित्तको भगवत्प्रवण बनानेमें साधिका नहीं बनती – यह अभिप्राय 'तनुवित्तजा' समस्त पदके प्रयोगद्वारा ज्ञापित होता है. इससे सिद्ध होता है कि किसी भी फलाकांक्षा या कपट के बिना जब भगवानके लिये हम अपना सर्वस्व निवेदन करके भगवानके ही लिये अपने देहका भी विनियोग करते हैं तब प्रेम होनेपर चित्तकी भगवत्प्रवणता सिद्ध होती है. (सि.मु.वि.).

वह वित्त यदि वेतनके रूपमें देकर सेवा कराई जाती है तो चित्तमें ऐसी राजसता = अहंकारको बढा देनेवाली बन जायेगी कि चित्त भगवत्प्रवण हो नहीं पायेगा. यदि वेतनके रूपमें वित्त लेकर सेवा की जाती है तो जैसे ऋत्विक्को यागका फल नहीं मिलता, इसी तरह दूसरेका वित्त लेनेके कारण स्वयंके चित्तके भगवत्प्रवण हो पानेका फल सिद्ध नहीं होगा. यहां यह शंका नहीं करनी चाहिये कि वित्तदान करनेवाले यजमानको जैसे यागफल मिलता है उसी तरह वित्तदान करके दूसरेसे भगत्सेवा करवा लेनेवालेको भी चित्तकी भगवत्प्रवणतारूप

सेवाका फल मिलना ही चाहिये. क्योंकि यज्ञयागके लिये ऋत्विजोंका वरण, उन्हें दक्षिणा देने, आदिका प्रकार शास्त्रविहित है. भक्तिमार्गमें उस तरह अन्यका वरण करके सेवा करवा लेनेका और तदर्थ दक्षिणा दे देनेका प्रकार भगवानने कहा नहीं है. अतः यज्ञयागकी तरह वित्तदक्षिणा देकर सेवा दूसरेसे नहीं करवा लेनी चाहिये किन्तु भगवानने जैसी कही है वैसी ही रीतिसे सेवा करनी चाहिये. तभी साधनरूपा तनुवित्तजा साध्यरूपा मानसी सेवाको सिद्ध करती हुई स्वयं भी फलरूपा बनकर व्रजस्थ भक्तोंकी तरह पर्यवसित हो जायेगी. (सि.मु.वि.प्र.).

मूल: ''लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्वदेवलकत्वादिसम्पादकत्वात् तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धप्रकारेण ऐहिकं मे भवतु इति अनुसन्धाय प्रवृत्तो लोकार्थी'' (सि.मु.वि.प्र. १६).

अनुवाद: धनलाभ अथवा गाममें अपनी ख्याति बढ़ानेके प्रयोजनवश की जाती सेवा उपधर्म = पाषण्ड, देवलकता, आदि दोष पैदा करनेवाली होती है. अतः सेवाके वैसे प्रकारसे भिन्न (अर्थात् निषिद्ध जो वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाका प्रकार है वैसे नहीं किन्तु धर्मार्थ भगवत्सेवाके ही) प्रकारसे की जाती सेवा करते समय हृदयके भीतर कोई ऐसी कामना रखे कि इससे मेरा ऐहिक भी कुछ सुधर जाये – ऐसे अनुसन्धानके साथ भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवालेको लोकार्थी समझना चाहिये. इसे, महाप्रभुके अनुसार, भक्तिसिद्धिकी जगह क्लेशप्राप्ति ही होती है (सि.मु.वि.प्र. १६).

इस विधानपर विमर्शकारने अपना मत यों दिया है:

''प्रकृतमें श्रीपुरुषोत्तमजीके कहनेका आशय यह है कि लाभपूजार्थ की जानेवाली सेवा उपधर्म है. अर्थात् सेवाका दम्भ है. लाभपूजार्थ की जानेवाली सेवा देवलकत्व आदिकी सम्पादिका है. यहां यह ध्यातव्य है कि अपने निर्वाहके लिये की जानेवाली सेवा (प्रारम्भमें वर्णित वृत्त्यर्थ सेवा) महद्विमृग्य भक्तियोगकी दृष्टिसे उपधर्म है या नहीं – यह सन्दिग्ध है. परन्तु इस दृष्टिसे वह परधर्म अवश्य है. वैसी सेवा धर्मशास्त्रानुसार न उपधर्म है और न तो परधर्म है. क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है. द्रव्य कमाने हेतु...परन्तु वृत्त्यर्थ की जानेवाली भगवत्सेवा देवलकत्वकी सम्पादिका नहीं हो सकती.'' (विमर्श पृ. ५७-५८).

इससे अधिक हास्यास्पद अकाण्डताण्डवकी कल्पना करनी कठिन है !

यहां सर्वप्रथम लोकार्थी अथवा वृत्त्यर्थी द्वारा की जाती सेवाओंके भेदको समझना नितान्त आवश्यक है. तदनुसार एक सारणीपर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा :

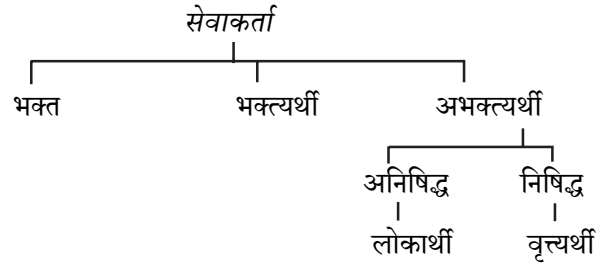

पहले परिच्छेदमें 'निरुपधि'विशेषणके अभिप्रायकी मीमांसा करते हुए पृष्ठ ७-११ तक जो विमर्शकारने विचाराडम्बर किया है वह तथा इस देवलकतापर किये गये विचारसे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि विमर्शकारको लोकार्थी और वृत्त्यर्थी के भेदका लेशमात्र भी भान नहीं है. इसलिये तनुवित्तजाके अखण्डितैक्यनियमसे छटकनेको वहां 'निरुपधि' तिलका ताड बनाया गया है. इसी तरह यहां ''अपने निर्वाहके लिये की जानेवाली सेवा...उपधर्म है या नहीं यह सन्दिग्ध है'' विधानद्वारा ताडको तिल जितना माननेकी बाललीला प्रकट की है. इस विचाररीतिमें कितने दोष हैं ? गिनिये -

(१) भक्तिहंसगत ''तत्रापि अर्थाद्यर्थिभिः विहितत्वेन कृतः चेत् तदा स तथा (कर्ममार्गीयः) वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवत् लौकिकएव शौचार्थिगंगास्पर्शवत् च. नहि तस्य मलनिवृत्त्यतिरिक्तो धर्म उत्पद्यते प्रत्युत निषिद्धाचरणाद् पापमपि'' (द्र. इसी ग्रन्थका पृ. १९-२०) वचनानुसार अर्थाद्यर्थीद्वारा विहितत्वेन कृत श्रवणादि भक्तिमार्गीय न होनेपर भी कर्ममार्गीय तो हो सकते हैं.वृत्त्यर्थ किये श्रवणादि तो कृषिवत् लौकिक कर्म ही नहीं प्रत्युत निषिद्ध पापाचरणरूप ही होते हैं. यह भेद भी लोकार्थी और वृत्त्यर्थी का ही है. अतएव लोकार्थीके लिये श्रीपुरुषोत्तमजीने ''तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धेन प्रकारेण'' कहा है. इसी तरह वृत्त्यर्थीको यहां 'पाखण्डी' 'देवलक' जैसे कह रहे हैं ऐसे ही भक्तिहंसमें ''निषिद्धाचरणकर्ता पापी'' कहा गया है.

इतने सुस्पष्टभेदके बावजूद विमर्शकारको अपने निर्वाहके लिये की जानेवाली भगवत्सेवा उपधर्म है कि नहीं - यह सन्दिग्ध लग रहा है तो लगता है कि न केवल श्रीपुरुषोत्तमजीके विधानके ही अपितु प्रभुचरणके विधानके प्रामाण्यमें भी विमर्शकारने अपनी संशयात्मता प्रकट कर दी है, आत्मविनाशकी परवाह किये बिना ! क्योंकि विमर्शकार कह रहे हैं कि वृत्त्यर्थ की जानेवाली भगवत्सेवा देवलकत्वादिसम्पादिका नहीं हो सकती जबकि प्रभुचरण स्पष्ट गंगाके पवित्र जलको पायुप्रक्षालनार्थ प्रयोग करनेके पापसे वृत्त्यर्थ भक्तिकी तुलना कर रहे हैं.

(२) शास्त्रमें यजन धर्मार्थ तथा याजन वृत्त्यर्थ होता है - इतना स्थूल भेद भी विमर्शकार समझ नहीं पाये ! किमाश्चर्यमतः परम् !

(३) श्रीयामुनेयाचार्यजीके सारे वचन वृत्त्यर्थ याजनपरक हैं, यजनपरक नहीं - यह भी करतलामलकवत् तथ्य विमर्शकार समझ नहीं पाये हैं.

(४) प्रभुचरण तथा श्रीपुरुषोत्तमचरणद्वारा अभ्युपगत पक्षसे पृथक् महद्विमृग्य भक्तियोगका उल्लेख कर उन्हें पुष्टिमार्गमें महद्विमृग्य भक्तियोगके या तो अनधिकारी अथवा अज्ञानी होनेका छद्म आरोप और लगा दिया है !

(५) ''वृत्त्यर्थ की जानेवाली सेवा देवलकत्वसम्पादिका होती है उसमें कोई प्रमाण नहीं है'' कहना तो विमर्शकारका अपने शास्त्रश्रद्धाराहित्यका ही शुद्ध प्रदर्शन है. क्योंकि देवद्रव्यप्रकरण तथा देवलकप्रकरण के अन्तर्गत तन्त्रादि शास्त्रोंके जितने वचन विमर्शकारने उद्धृत किये हैं उनमेंसे प्रायः अनेकानेक कोटिओंमें आधुनिक पुष्टिमार्गीय गोस्वामी देवलक ही सिद्ध होते हैं. यह हम आगे चलकर दिखायेंगें.

(६) 'वित्तं दत्वा'में श्रीपुरुषोत्तमजीद्वारा व्याख्यात 'वेतनत्वेन' का इतना बावेला मचानेवाले विमर्शकार यदि यहां श्रीपुरुषोत्तमजीद्वारा किये गये विधानका प्रामाण्य सन्दिग्ध मानते हों तो वहां भी वह सन्दिग्ध बन जायेगा कि नहीं ?

(७) आर्त्विज्यार्थ गृहीत दक्षिणाद्रव्यकी निर्दोषताके आधारपर भगवत्सेवार्थ गृहीत भेंट-सामग्रीकी निर्दोषता सिद्ध करनी हो तो फिर पुष्टिमार्गीय गोस्वामी कर्मपुरोहित या देवालयपुरोहित ही सिद्ध होंगें, आचार्य या गुरु नहीं. क्योंकि उपदेशकको दी जाती गुरुदक्षिणा तथा ऋत्विक् = पुरोहितोंको दी जाती कर्मदक्षिणा एक कोटिकी हो नहीं सकती. क्योंकि यदि एक कोटिकी हो सकती हो तो जो आचार्यको गुरुदक्षिणा या स्वसम्प्रदायकी परिभाषाके अनुसार 'गुरुकी चरणभेंट' कही जाती है वह वेतन बन जायेगी. इससे सेवा करना स्वयं विमर्शकारद्वारा

निषिद्ध माना गया है. अतएव यदि भिन्न मानते हैं तो आर्त्विज्यके लिये वृत ब्राह्मणको दी जाती कर्मदक्षिणाकी तुलनामें आधुनिक वल्लभवंशज गोस्वामिओंको दी जाती भगवत्सेवार्थ भेंट-सामग्रीका कोई बादरायणसम्बन्ध भी खोजना कठिन काम हो जाता है.

(८) आर्त्विज्यमें वंशवाद नहीं चलता है परन्तु कर्मविधिकी जानकारी ही अभिलषित होती है. अतः गोस्वामिओंकी आनुवंशिक गुरुपदवी खतम हो जायेगी !

(९) पुष्टिमार्गीय गोस्वामिओंके द्वारा यदि आर्त्विज्य किया जाता हो तो सेव्यस्वरूपके बारेमें तथाभिनन्दित पु.सि.सं.शि. चि.हरिरायजीद्वारा गृहीतपक्ष - कि गोस्वामिओंके स्वार्थ-परार्थ उभयार्थ होते हैं - अकाम गलेपतित होगा. ऐसी स्थितिमें निजाराध्य सेव्यस्वरूप भी गोस्वामी तथा वित्तदाता दर्शनार्थी वैष्णवोंकी साझेदारीका होगा. तब भगवत्स्वरूपमूलक पीठाधीशतावादिओंको वित्तदाता दर्शनार्थिओंकी भी पीठाधीशतामें भी साझेदारी स्वीकारनी पड़ेगी.

(१०) आर्त्विज्यमें कर्मफल ऋत्विजको नहीं परन्तु वित्तदाता यजमानको प्राप्त होता है. ऐसे ही चित्तका भगवत्प्रवण बनना रूप फल भी वित्तदाता दर्शनार्थी जनताको मिलेगा, पू.पा.गो.महाराजश्रीको नहीं. इससे अधिक विडम्बनापूर्ण स्थिति और क्या हो सकती है कि गुरु मुख्यफलसे वंचित और शिष्य मुख्यफलाधिकारी सिद्ध हो रहे हैं !

(११) विमर्शकारद्वारा उद्धृत श्रीयामुनेयाचार्यके वचनोंमें - ''नहि भागवतैः सर्वैः वृत्तयेऽभ्यर्चितो हरिः. दृष्टा हि बहवः स्वार्थं पूजयन्तोपि सात्त्वताः. केचिद् परं सन्तः शाश्वता(ऽ)वृत्तिकर्शिता याजयन्ति महाभागैः वैष्णवैः वृत्तिकारणात्. न तावतैषां ब्राह्मण्यं शक्यं नास्तीति भाषितुम्, न खल्वाध्वर्यवं कुर्वन्

ज्योतिष्टोमे पतिष्यति. यदि न प्रतिगृह्णीयुः पूजैव विफला भवेत्, पूजासादुण्यसिद्ध्यर्थमतस्ते प्रतिगृह्णते. अर्चनान्ते हिरण्यं च तस्मै देयं स्वशक्तितः, अन्यथा पूजकस्यैव तत्र पूजाफलं भवेत्, 'हक्त्यल्पदक्षिणो यज्ञः' इत्यादिस्मृतिदर्शनात्. ऋत्विजा धनलुब्धेन स्वयं याञ्चापुरस्सरं, यदार्त्विज्यं कृतं कर्म तदेव हि निषिध्यते.''*(विमर्श. पृ. ४५-४६).

स्पष्ट है कि परार्थयाजन अर्थात् वृत्तिरूप याजनकी वैधता यहां विवक्षित है, स्वार्थयजन को वृत्त्यर्थ करनेकी अनुमति नहीं. अतएव हिरण्यदक्षिणा न देनेपर पूजाफल यजमानके बजाय पूजाकर्ता ऋत्विक्को मिल जायेगा इसकी विभीषिका यहां दिखलाई गई है. प्रकृत सन्दर्भमें विमर्शकार भी क्या भयभीत है कि गोस्वामिओंका चित्त कहीं भगवत्प्रवण न हो जाय ! क्या एतदर्थ ही वे दर्शनार्थी वैष्णवजनताको प्रेरित करना चाहते हैं कि पू.पा.गो.म.श्रीओंके सेव्यस्वरूपकी नित्यसेवा और मनोरथसेवामें भेंट-सामग्री प्रदान कर पू.पा.म.श्रीओंके चित्तोंको भगवत्प्रवण होनेसे कथमपि बचा लेना दर्शनार्थी वैष्णवजनताका कर्तव्य है ?

स्वयं श्रीयामुनेयाचार्य भी स्वयंयाचनाका तो निषेध कर ही रहे हैं. मनोरथोंकी भेंट-सामग्रीकी स्वयंयाचनाके पॅम्फलॅट तथा मासिक पत्रिकाओंमें सार्वजनिक याचनाओंकी फॉटॉ प्रतिलिपि प्रकाशित करवानी हो तो एक दलदार पन्नोंका स्वतन्त्र ग्रन्थ ही छप सकता है. कहाड़ीभेंटकी स्वयंयाचनाकी पुस्तिकाके आद्यन्त पृष्ठोंकी फॉटॉकॉपी तो हमने प्रथम भागमें प्रकाशित करवायी ही थी !

इन दोषोंको देखते हुए आर्त्विज्यमें दक्षिणादानके समर्थक वचनोंका हम गोस्वामिओंको लाभ मिल सकता हो - ऐसा मुझे नहीं लगता.

(२) जनकपितृतारूप गुरुत्व

वित्तदाता दर्शनार्थी जन तथा वित्तगृहीता पू.पा.गो.म.श्रीओं के बीच निषेकादि संस्कार अन्नवस्त्रादिद्वारा पालन-पोषणरूप गुरुत्वकी चर्चा तो सर्वथा अकल्पनीय अप्रासंगिक होनेसे उपेक्षणीय ही होनी चाहिये. पुत्रकल्प वैष्णवजनतासे

---

*वृत्त्यर्थ देवतापूजा नैवेद्यभक्षण आदि हेतुओंके कारण दौर्ब्राह्मण्यके आरोपका खुलासा यह है: सभी भागवत वृत्त्यर्थ ही हरिपूजन करते हों ऐसा नहीं है. अधिकांश सात्त्वत (वैष्णव) स्वार्थ ही भगवत्पूजन करते दिखलाई देते हैं. कुछ (अ)वृत्तिकर्शित यदि महाभाग वैष्णवोंद्वारा वृत्त्यर्थ याजन (यजन नहीं) करते भी हों एतावता उनमें ब्राह्मणत्व नहीं रहता - यह कहा नहीं जा सकता है. उदाहरणतया ज्योतिष्टोममें आध्वर्यव = आर्त्विज्य करनेवालेका पतन होता है ऐसा माना नहीं जाता. यदि वे पूजाको सफल बनानेके लिये कुछ दक्षिणा वृत्त्यर्थ स्वनिर्वाहार्थ न स्वीकारते हों तो पूजा ही विफल हो जायेगी (पूजाविधिमें दक्षिणादानके विहित होनेके कारण). अतः यजमानको अपनी शक्तिके अनुरूप उन्हें हिरण्य दक्षिणाके रूपमें देना चाहिये. अन्यथा पूजाका फल यजमानोंको मिलनेके बजाय पूजाकर्ता

ऋत्विक्को मिल जायेगा. ''अल्पदक्षिणाक यज्ञ घातक होता है'' जैसे वचनोंके कारण जो ऋत्विक् धनलोभसे स्वयं अधिक दक्षिणा मांगने लगता है वैसा आर्त्विज्य तो ज्योतिष्टोमादि यज्ञकर्मकी तरह हरिपूजनरूप कर्ममें भी निषिद्ध ही है. असमर्थ पितृकल्प गुरुओंके पालन-पोषणकी बात तो कथमपि सोची भी जा सकती है जबकि पूर्ववर्णित अनेकानेक भेंटके प्रकारोंको देखते हुए तो हम गोस्वामिओंका ही पालन-पोषण वैष्णवजनता कर रही है. सो भी हमारे गुरुजनोचित कर्तव्योंसे हमारे विमुख विरत तथा असमर्थ होनेपर भी ! सो इस विषयमें प्राचीन वार्ताओंकी उपसंहारशैलीका अनुसरण करते हुए ''इनकी वार्ता कहां तांई कहीये !'' कहकर हम भी उपसंहार करना चाहेंगे.

(३-४) उपाध्यायरूप तथा आचार्यरूप गुरुत्व

इस उपाध्याय तथा आचार्य के एकैकांशोंको लेकर व्याख्याकार मेधातिथिने उपाध्यायसे ऊपर आचार्यसे नीचे एक और कोटि सामान्य गुरुत्वकी स्वीकारी है. वे कहते हैं:''उपाध्यायकी तरह उपनयन-दीक्षा प्रदान किये बिना ही आचार्यकी तरह जो वेदोंका अध्यापन करायें उसे क्या कहना ? उत्तर है- 'अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया' वचनके आधारपर उसे आचार्यसे न्यून परन्तु उपाध्यायसे उच्च गुरुतया मान्य करना चाहिये.''

इन उपाध्याय गुरु तथा आचार्य को अध्यापनकालमें तथा अध्यापनोत्तरकालमें गुरुदक्षिणाका विधान उपलब्ध होता है. कुल्लुक कहते हैं कि आपस्तम्ब सूत्रके अनुसार समावर्तनसे पहले भी नियत न होनेपर भी ब्रह्मचारीको भिक्षामें यदि कुछ गो-वस्त्र-धन-धान्यादि मिलता हो और उसे वह गुरुको देना चाहे तो उसे भी गुरुदक्षिणा ही समझनी चाहिये. समावर्तनके समय गुरुसे आज्ञा मिलनेपर यथाशक्ति अथवा कहींसे याचनापूर्वक भी गुरुदक्षिणा देनेमें दोष नहीं है. इसी अनियमका निरूपण मनुस्मृतिमें, अतएव, इन शब्दोंमें किया गया है:

न पूर्वं गुरवे किञ्चिद् उपकुर्वीत धर्मवित्।
स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्।।

(मनुस्मृ. २।२४४).

स्पष्ट है कि वैदिक उपाध्याय गुरु या आचार्य के धर्मभूत यजनमें यागार्थ वस्तु या वित्त प्रदान करनेकी विचारणा न केवल अप्रासंगिक ही है अपितु अकल्पनीय भी. ऐसी स्थितिमें यदि उपाध्याय गुरु या आचार्य मेंसे कोई एक

आधुनिक गोस्वामिओंको माना जाय तब भी इनके द्वारा अनुष्ठित यजनस्थानीय भगवत्सेवाकेलिये वित्त या अन्नादि वस्तु का प्रदान आवश्यक नहीं रह जाता है. क्योंकि ऐसे दानका प्रतिग्रह न तो 'उपाध्यायवृत्ति' न 'गुरुवृत्ति' और न 'आचार्यवृत्ति' ही कहलायेगी. गुरुदक्षिणांगभूत उपायन या सत्प्रतिग्रह की बात यहां सोचनेपर प्रासंगिक हो सकती है. इस सन्दर्भमें यह अवधेय है कि दीक्षाप्रदानपूर्वक समग्र शास्त्र या शास्त्रैकदेश का अध्यापन किया हो तभी वह धर्म्य हो पायेगा अन्यथा नहीं. आज लड्डु पूड़ी मठड़ी के विक्रयार्थ किये जाते मनोरथोंके आयोजक हम गोस्वामिओंमें वेदादि शास्त्रोंके अध्ययनार्थ उत्सुक कितने हैं और अधीत कितने हैं तथा अध्यापनका परिश्रम लेने समुद्यत कितने हैं ! यदि शुद्ध शुद्ध गुरुभाव हमारे भीतर होते तो देवद्रव्योपजीवनकी या देवलकताकी वृत्तिकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती ! और न उसकी वकालतमें विमर्श जैसे अपसिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थोंको प्रकट करनेकी आवश्यकता ही !

स्पष्ट है कि अध्यापनके कर्तव्यको निभाये बिना अध्यापककी हैसियतमें उपायन स्वीकारना गुरुदक्षिणारूप उपायन न रहकर ब्राह्मणकी हैसियतमें केवल प्रतिग्रह ही रह जाता है. ''तपस्तेजोयशोनुदम्'' शब्दोंमें इसे ही सर्वथा निन्दित माना गया है. यह तो ठीक ही है कि निन्दित होनेपर भी यह सर्वथा निषिद्ध नहीं है. अतः जब ब्राह्मणकी हैसियतमें हम प्रतिग्रह करते हैं तब उसके सत्प्रतिग्रह होनेकी सावधानी हमें रखनी ही पड़ेगी, सत्प्रतिग्रहनियमविधायक वचनोंके बलपर. तदन्तर्गत पुनः दाताके बारेमें तथा प्रतिग्राह्य धन या वस्तु के बारेमें सदसद्विवेक अनिवार्य हो जाता है. यथा-

प्रतिग्रहस्तु वृत्त्यर्थं ब्राह्मणस्तु समाचरेद्।
असदेवासतां प्रोक्तं निषिद्धं तद् विवर्जयेत्।।

यहां वृद्धहारीतने पाषण्डी-पतित-कुलटादि असद्दाताओंद्वारा दिये जाते दानके प्रतिग्रहकी कड़ी निन्दा की है. इसी तरह सद्दाताओंसे भी मांस-दिरा-घृत-लवणादि द्रव्योंको अप्रतिग्राह्य असद्द्रव्यतया निरूपित किया है.

इस सन्दर्भमें यह नितान्त विचारणीय हो जाता है कि आज पुष्टिमार्गीय सार्वजनिक मन्दिरों या हवेलिओं में बिना शिष्याशिष्यके विवेकके, बल्कि पुष्टिमार्गीय या अपुष्टिमार्गीय के भी सदसद्विवेक रखे बिना, सभी दर्शनार्थिओंसे जो सन्मुख भेंट या असन्मुख(!)भेंट अर्थात् भण्डार पेढ़िओंमें घृतलवणतिलादि तथा गौशालामें घास आदि भी, जो वर्जित द्रव्य माने गये हैं, उनका प्रतिग्रह करना

कहां तक उचित है ? यदि देवार्थ प्रतिग्रह होनेसे अनुचित न मानते हों तो देवद्रव्यके उपभोगके कारण देवलकता दोष गलेपतित होगा. गोस्वामी महाराजकेलिये प्रतिग्रह मानते हैं; अर्थात् वह गुरुकी हैसियतमें शिष्योंसे गुरुदक्षिणांगभूत उपायनतया लेना स्वीकारते हैं, तो अशिष्योंका कुछ लेनेमें न आ जाय इसकी सावधानी कहां रखी जाती है ? यदि ब्राह्मणकी हैसियतमें लेते हैं तो पुनः सत्प्रतिग्रहका नियम अनिवार्य हो जाता है. वह कहां निभाया जा रहा है ? यथा –

पाषण्डाः पतिताः पापाः तथैव प्रतिलोमजाः ।
कुलटाश्च विकर्मस्था असतः परिकीर्तिताः ।।
लवणं तिलकार्पासं चर्म्म च त्रपुसीसकम् ।
आयसं मधुमांसं च विषमन्नं घृतं रुजम् ।।
.....
तृणकाष्ठं च कूष्माण्डं शिंशपाश्च विवर्जयेद् ।

(वृद्ध हारीतस्मृ. चतुर्थाध्याय).

वैसे एक दुःखद हकीकत तो यही है कि अधिकांश आचार्यवंशज गोस्वामी महानुभाव महाप्रभु–प्रभुचरणादि विरचित पुष्टिमार्गीय ग्रन्थोंके अध्ययनाध्यापनसे भी बहुधा विरत–विमुख रहते हैं और साथ ही साथ केवल आचार्यवंशज होनेके नाते दीक्षाप्रदान करनेका अपना एकाधिकार भी मानकर गुरुपदोचित गौरवके दावेदार भी बने रहना चाहते हैं. ऐसी स्थितिमें वेदवेदांगादि शास्त्रोंके अध्ययनाध्यापनकी अपेक्षा इस मार्गके अनुयायिओंकी केवल मृगतृष्णा ही सिद्ध होती है. स्वयं विमर्श ग्रन्थ धर्मार्थ यजन और वृत्त्यर्थ याजनके शास्त्रीय दृष्टिमें स्थूलतम प्रभेदका भी विवेक कर पानेमें अपनी अक्षमता प्रकट कर रहा है तो अन्योंकी तो कथा ही क्या ! पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (पार्ला)में गोस्वामी श्रीवल्लभरायजीने ''न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः'' वचन उद्धृत कर कर वेदवेदांगन्यायमीमांसा आदि शास्त्रोंमें निष्णात निरपेक्ष विरक्त शान्त वृद्धोंकी अनुपस्थितिमें लिये गये धर्मनिर्णयको अनिर्णायक माना था (द्र. विस्तृत विवरण पृ.२८८–२९३). क्या विमर्शकार उक्त लक्षणसे युक्त किसी 'गोस्वामी'का निर्देश शृंगग्राहिकावृत्तिसे कर पायेंगे ?

ऐसी स्थितिमें उपायनीभूत गुरुभेंट या सत्प्रतिग्रह दोनोंमेंसे एकके भी सिद्ध न होनेपर –

मूल: अव्रतश्चानधीयानाः यत्र भैक्षचरा द्विजाः ।
तं ग्रामं दण्डयेद् राजा.....

(अत्रिसंहिता श्लो. २२).

अनुवाद: व्रतहीन अनधीत ब्राह्मणोंको जिस गाममें मांगनेपर भीख मिल जाती हो (जैसे मनोरथोंकेलिये मांगनेपर अपने मार्गमें हम गोस्वामिओंको मिल जाती है) उस पूरे गांवको (चोरको प्रश्रय देनेवाले गांवकी तरह) दण्डित करना चाहिये – यह राजाका कर्तव्य है.

इससे सिद्ध होता है कि गुरुत्वके अधिकारसे दर्शनार्थी जनतासे धनादि हम लेते हों तो उस दाताके शिष्य होनेकी शर्त निभानी चाहिये. जैसे महाप्रभु कड़ाईसे इस नियमका पालन करते थे – अशिष्यसे कभी प्रतिग्रह करते नहीं थे. अन्यथा ब्राह्मणत्वके अधिकारसे सत्प्रतिग्रहका नियम सर्वथा अनुल्लंघनीय होता है.

तैत्तिरीय उपनिषद्में आचार्य और अन्तेवासी के सम्बन्धका निरूपण करते हुए कहा गया है कि विद्यादान तथा विद्याग्रहण रूप सम्बन्धका सन्धान प्रवचनात्मना ही होता है; आचार्याराध्य देव या उसके पूजन के वृत्त्यर्थ प्रदर्शनात्मना नहीं.

मूल: अथाधिविद्यम्. आचार्यः पूर्वरूपम्. अन्तेवासी उत्तररूपम्. विद्या सन्धिः. प्रवचनं सन्धानम्. इत्यधिविद्यम्.

अनुवाद: विद्याके प्रसंगमें आचार्य पूर्वरूप होता है और अन्तेवासी उत्तररूप. इनकी सन्धि विद्या है और विद्याके प्रसंगमें ये दोनों जुड़ते हैं उस विद्या–प्रवचनके उपदेश और श्रवण द्वारा. विद्याके प्रसंगकी यह कथा है.

आज तो यह स्थिति हो गई है कि ''अथाधिपुष्टिम्. आचार्यवंशजः पूर्वरूपम्. दर्शनार्थिमनोरथिजनः उत्तररूपम्. दर्शनभेंटसामग्रीसमाधानं सन्धिः. मठड़ी सन्धानम्. इत्यधिपुष्टिम् !''

यही कारण है कि स्ववृत्तिवादमें श्रीपुरुषोत्तमजीने स्पष्ट शब्दोंमें घोषित किया है – ''तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति. युक्तं च एतद्, अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसंजनात्. किञ्च ऋतोत्तरम् अमृताख्यायाः अयाचितवृत्तेः

उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्य तु – एवं संकोचे तस्यामपि प्रशस्तत्वसिद्धिः.''

'गुरुत्व'के साथ 'एव'कार जोड़नेसे गुरुत्वके अलावा अन्य वृत्तिओंका व्यावर्तन तो स्वीकारना ही पड़ेगा. उन अन्य वृत्तिओंमें कण्ठोक्ततया निषिद्ध वृत्ति जो भी हो उसे व्यावर्त्य न मानना तो सर्वथा विसंगतिपूर्ण व्याख्यान ही होगा. सिद्धान्तमुक्तावलीमें ऋत्विग्वृत्ति देवद्रव्योपजीवन या देवलकवृत्ति का कण्ठोक्त निषेध उपलब्ध होता ही है. अतः कमसे कम इन्हें तो व्यावर्तनीय मानना ही पड़ेगा.

शास्त्रतः परार्थ यजन अर्थात् वृत्तिरूप याजनको ब्राह्मणवृत्तितया मान्य किया गया है. भक्तिमार्गके स्वरूपके विचारसे तथा भगवानके द्वारा पुष्टिभक्तिनिरूपणके प्रसंगमें उसके विहित न किये जानेके कारण शास्त्रतः प्रसक्त होनेपर भी आर्त्विज्यवृत्तिका प्रतिषेध किया गया है, ''प्रसक्तस्य प्रतिषेधो'' न्यायेन. अतः सच्चे भक्तकेलिये तो स्वभावतः ही अप्रसक्त होनेसे इसे अनावश्यक भी माना जा सकता था. फिर भी भक्तिसम्प्रदायमें, जैसे अपने ही मार्गमें, कामलोभपूजादिकी दुर्बल मनोवृत्तिके कारण उसे प्रसक्त भी स्वीकारना ही पड़ता है. अतः देवद्रव्योपजीवनकी वृत्तिका तथा देवलकत्वकी वृत्तिका व्यावर्तन 'एव'कारसे किया गया है – यों स्वीकारना ही पड़ेगा. स्वार्थ यजनको वृत्तितया करनेकी बात वैसे तो सिद्धान्तमुक्तावलीकी विवृतिमें प्रभुचरणने अप्रसक्त ही मानी थी. अतएव ''लोकार्थी...''के व्याख्यानमें निषिद्धतया भी उसका उल्लेख उचित नहीं समझा गया. परन्तु निजवंशजोंके इस भवितव्यको दिव्य दृष्टिसे निहारकर ही आपने पूरकांशमें ''ननु कश्चिद् जीविकाद्यर्थमपि भजते...अन्यथा तदसम्भवाद्'' जोड़ा होगा. भक्तिहंसगत ''तत्राप्यर्थाद्यर्थिभिः...निरस्तम्''अंश भी इसी भवितव्यको दृष्टिमें रखकर लिखा होगा.

इसका अधिक विवेचन आगे किया ही जायेगा.

कुल मिलाकर श्रीमद्भागवतके इस दिव्य उपदेशको, वह हमसे निभ पाये या नहीं, हमारे लिये आदर्शभूत कर्तव्यके स्वरूपनिर्धारणार्थ कभी विस्मृत नहीं करना चाहिये –

मूलः इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम्।
प्रतिग्रहोध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम्।।

प्रतिग्रहं मन्यमानः तपस्तेजोयशोनुदम्।
अन्याभ्यामेव जीवेत् शिलैर्वा दोषदृक्तयोः।।
ब्राह्मणस्य हि देहोयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रत्यानन्तसुखाय च।।
शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः।
मय्यर्पितात्मा गृहएव तिष्ठन् नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम्।।
यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा।
धनेनापीडयन् भृत्यान् न्यायेनैव हरेत् क्रतुन्।।
(श्रीमद्भाग. ११।१७।४०–५१).

अनुवादः इज्या (=यजन–अर्चन–पूजन–सेवन–भजन) अध्ययन और दान ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य तीनोंके कर्तव्य हैं. याजन अध्यापन और प्रतिग्रह केवल ब्राह्मण ही कर सकता है. प्रतिग्रह करनेपर तप तेज और यश जब क्षीण होता लगता हो तब याजन अध्यापनद्वारा ही जीवननिर्वाह करना उचित हो जाता है. अथवा शिलोञ्छवृत्तिसे भी जीवननिर्वाह कर लेना चाहिये. क्योंकि ब्राह्मणकी देह किन्हीं क्षुद्र ऐहिक कामनाओंकी पूर्तिकेलिये नहीं होती. यह तो कठोर तप तथा पारलौकिक सुखकेलिये ही होती है. शिलोञ्छवृत्तिसे चित्तको परितुष्ट रखते हुए वैराग्यपूर्ण महान धर्मका सेवन करते हुए जो संसारमें अति अनुरक्त हुए बिना भगवानकेलिये आत्मार्पण करता है वह घरहीमें रहनेपर भी दिव्यशान्तिको पा सकता है...अनायास उपलब्ध होनेवाले धनसे अथवा स्वोपार्जित शुक्लधनसे ही अपने पोष्यवर्गको पीड़ा पहुंचाये बिना न्यायपूर्वक ही क्रतु(अथवा तत्स्थानीय भगवत्सेवा)का अनुष्ठान करना चाहिये.

इस धर्मनिर्णयको प्राप्त करनेकेलिये रागद्वेषविहीन त्रैविद्य हैतुक तर्की नैरुक्त धर्मपाठक त्र्याश्रमी वृद्धोंकी संमति विमर्शग्रन्थलेखनसे पूर्व लेनी क्यों विमर्शकारने आवश्यक नहीं मानी ?

तो आईए, तन्त्रशास्त्रोंकी तान्त्रिक गुरुत्वके बारेमें क्या अभिमति है यह जाननेको आगे बढ़ें!

सिद्धान्तसार

यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः इति.

–सुबो. २।९।१९.

जो स्वार्थ (वृत्त्यर्थ भूत्यर्थ प्रतिष्ठार्थ) भगवत्सेवन करता हो उसे अधम (ऋत्विक्/गुरु/उपाध्याय/आचार्य) समझना चाहिये.

–महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य.

तान्त्रिक गुरुत्व

राजोवाच

मूलः कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः।
विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम्॥
आविर्होत्र उवाच
कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥
परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा॥
नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंगोर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥
य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥
लब्ध्वानुग्रह आचार्यात् तेन सन्दर्शितागमः।
महापुरुषमभ्यर्चेद् मूर्त्याभिमतयात्मनः॥

(श्रीमद्भाग. ११।३।४१–४८).

सुबोधिन्यनुसारि

भावानुवादः राजाने कहा– हमें वह कर्मयोग समझाईये कि जिसके द्वारा शीघ्र ही कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर परम नैष्कर्म्यको पाया जा सकता हो.

आविर्होत्रने कहा– विहितकर्म, निषिद्धकर्म तथा विहितकर्म के अकरणका स्वरूप वेदैकगम्य है, लोकगम्य नहीं है. वेद स्वयं ईश्वररूप है अतः ज्ञानी भी वहां मोहित हो जाते हैं. बच्चोंको कोई बात समझानी हो तो उनकी समझ पानेकी शक्तिके अनुसार ही समझानी पड़ती है. वैसे ही वेदमें भी परोक्षवादका सहारा लेकर कई बातें समझाई गई हैं. अतएव कर्मबन्धनसे छुड़ानेको वेदमें कर्मविधान किये गये हैं. उदाहरणतया

रोगनिवारक औषधिओंका विधान, रोग तथा औषधि दोनोंसे छुटकारा दिलानेको आयुर्वेदमें किया गया है. अतएव अज्ञानी अजितेन्द्रिय व्यक्ति जब स्वच्छन्दतया वेदोक्तरीतिसे आचरण नहीं करता वह विकर्म या अधर्म के कारण सर्वथा नष्ट हो जाता है. जो निःसंगतया वेदोक्त कर्मोंको ईश्वरार्पणबुद्धिसे करता है उसे ही नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होती है. बाकी तत्तद् कर्मोंके अनुष्ठानसे जो तत्तत् फल मिलनेकी बात वेदमें कही गई है वह फल किसीको अवश्य मिलना ही चाहिये – ऐसा प्रयोजन या अभिप्राय वेदका नहीं है. वैसे अपनी हृद्गत कामग्रन्थिओंसे शीघ्र ही छुटकारा चाहनेवालोंके लिये विभूतिओंका तो नहीं प्रत्युत परमात्मविधिद्वारा ही श्रीकृष्णदेवका भजन पुष्टिमार्ग अथवा तन्त्रोक्त विधानोंसे करना चाहिये. आचार्यका अनुग्रह पाकर महापुरुष=पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी सहस्रावधि मूर्तिओंमेंसे जो मूर्ति यथास्वभाव प्रिय लगती हो उस मूर्तिका भजन करना चाहिये.

यहां सुबोधिनीमें महाप्रभुने कई बातोंका स्पष्टीकरण दिया है जिसका अनुवाद भी देख लेना अच्छी बात होगी:

''इस तरह वैदिक कर्मयोगके स्वरूपको निर्धारित करके अब सुगम सार्वजनीन तान्त्रिक कर्मके स्वरूपको निर्धारित करना यहां अभीष्ट है. लौकिक अनर्थोंकी निवृत्ति लौकिक उपायोंसे ही करनेकेलिये सांख्यादि सिद्धान्त प्रवृत्त हुए हैं. उन सभीमें शीघ्र हृदयग्रन्थिविभेदक वैष्णवतन्त्र हैं. 'परमात्मविधि' कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवानकी विभूतिओंके भजनके बजाय केवल पुष्टिमार्गका अनुसरण करते हुए भगवद्भजन करना चाहिये. यदि यह शक्य न हो तो तन्त्रोक्त प्रणालीसे भी श्रीकृष्णका ही भजन करना चाहिये. मर्यादानिर्वाहार्थ पुष्टिमार्ग और तन्त्रमार्गका समुच्चय भी किया जा सकता है. जैसे भी हो, श्रीकृष्णका ही, भजन करना चाहिये. मार्गान्तरसे विरोध होनेकी शंकाको यहां कोई अवकाश नहीं है. क्योंकि जो जिस दीक्षामें दीक्षित हो जाता है वह उस दीक्षानुविहित कर्मोंसे अतिरिक्त कर्तव्योंको निभानेके उत्तरदायित्वसे मुक्त ही हो जाता है. स्वतः नहीं किन्तु एकतः अनुग्रहीत होनेके कारण देवतान्तरविरोधकी भी शंका रह नहीं जाती है. उपनयनादि (वैदिक गायत्रीमन्त्रदीक्षाकी तरह तान्त्रिक गोपालमन्त्रदीक्षा, गीतोपदिष्ट शरणमार्गीय अष्टाक्षरमन्त्रदीक्षा, भागवतोपदिष्ट भक्तिमार्गीय सगद्यपंचाक्षरमन्त्रदीक्षा)* दीक्षाप्रदाता आचार्य ही होता है. अतः वेदमार्गके

विरोधकी भी शंका निरस्त हो जाती है. एक कर्ममें विनियुक्त पुरुषकेलिये अन्य कर्म स्वतः ही विकर्म हो जाते हैं. स्वतः कुछ करनेपर दोष हो भी सकता है परन्तु यहां तो भगवन्मार्गस्थ आचार्यकी आज्ञासे ही जो भी करना है सो करना है. (तुलनीय: ''सेवाकृतेः गुरोराज्ञा'' – नवरत्न)*. प्रत्येक कर्मकेलिये उस कर्मके द्वारा प्राप्त होनेवाले फलके अभिलाषीको उस कर्मका अधिकारी माना जाता है. जैसे स्वर्गप्राप्तिकेलिये विहित कर्मको करनेका अधिकारी स्वर्गाभिलाषी

---

*कोष्ठकान्तर्गत लेखकीय हैं.

ही होता है. अतः भक्तिरूप फलकी प्राप्तिके साक्षात्हेतुतया जो कर्म उपदिष्ट नहीं हैं उन कर्मोंकी अभिलषित भक्तिकी प्राप्तिमें साक्षात्साधनता नहीं होती. जहांतक कर्ताके शास्त्रीय संस्कारोंसे असंस्कृत रह जानेके भयका सवाल है वह अन्यथा* भी सम्भव है. आचार्यका भी कर्तव्य है कि वह मनघड़ंत उपदेश देनेके बजाय तन्त्रगीताभागवतादि शास्त्रोंके अभिप्रायके आधारपर शिष्यको उसके कर्तव्यका उपदेश दें. इस तरह अहंताममताके निवर्तक प्रकारको अपनानेपर पारलौकिक बाधाओंकी कोई भी शंका रह नहीं जाती है.''

इस विस्तृत विवरणको भलीभांति हृदयंगत करनेपर यह समझना कठिन नहीं रहेगा कि पुष्टिमार्गीय गुरुत्वधर्म तान्त्रिक गुरुत्वका अवान्तर धर्म है. जैसे तान्त्रिक गुरुत्वधर्म वैदिक गुरुत्वका अवान्तरधर्म है या स्वयं वैदिक गुरुत्वधर्म भी ब्राह्मणत्वरूप धर्मका अवान्तरधर्म है. ऐसी स्थितिमें तान्त्रिक गुरुत्वरूप धर्म स्वव्यापकीभूत धर्म ऐसे वैदिक गुरुत्वरूप धर्मसे या तद्व्यापकीभूत ब्राह्मणत्वरूप धर्मसे विरुद्ध हो ही नहीं सकता.

वैसे ''कौण्डिन्यो गोपिका प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तत्'' (संन्यासनिर्णय) वचनमें पुष्टिमार्गमें कौण्डिन्य ऋषिको एवं गोपिकाओंको गुरुतया मान्य किया गया है तथा उनके द्वारा अपनाये गये साधनोंको अपनानेकी बात कही गई है. परन्तु वह साम्प्रदायिक दीक्षाप्रदायक गुरु या आचार्यके रूपमें नहीं है; अनुसरणीय आदर्शके रूपमें ही इनके गुरु होनेका उल्लेख है – ऐसा स्वीकारना पड़ता है. यह गोपिकाओंके साथ-साथ महाप्रभुद्वारा कौण्डिन्यऋषिका भी नाम लेनेसे स्पष्ट हो जाता है. क्योंकि न तो कौण्डिन्यऋषिने और न गोपिकाओंने ही दीक्षादिविधिवाले सम्प्रदायके प्रवर्तनपूर्वक किसी भक्तिसाधनाका उपदेश प्रदान करके किसीको शिष्य बनाया था और न ऐसी किसी शिष्यपरम्परामें श्रीमदाचार्यचरणने जन्मग्रहण

या विद्याग्रहण ही किया था. जिस पुष्टिभक्तिकी साधनाका मार्गदर्शन करते हुए ''कौण्डिन्यो गोपिका प्रोक्ताः...'' आज्ञा की है उस भक्तिमार्गकी दीक्षाका मन्त्रोपदेश श्रीमदाचार्यचरणको साक्षात् पुष्टिप्रभुने ही किया था – यह सिद्धान्तरहस्य है. अतएव पुष्टिमार्गीय शरणागतिका दीक्षामन्त्र एवं पुष्टिमार्गीय भक्तिका दीक्षामन्त्र श्रुतिगीताभागवतादि शास्त्रप्रमाणक होनेपर भी शास्त्रविहित नहीं है. अतएव पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली भी श्रुत्यादिशास्त्रप्रमाणक होनेपर भी श्रुत्यादि शास्त्रद्वारा विहित नहीं है. निष्कर्षरूपेण इस साधनाप्रणालीके प्रमेयरूप भजनीय भगवत्स्वरूप एवं उनकी फलानुभूति

---

*यावद् देहाभिमान वर्णाश्रमधर्म ही स्वधर्म होता है जबकि भगवद्धर्म भी विधर्म या परधर्म. तथा देहादिके संघातसे व्यतिरिक्त आत्मभावनाके दृढ़ होनेपर भगवद्धर्म ही स्वधर्म रह जाता है; अन्य सभी धर्मोंका यथाशक्ति अनुष्ठान अपाषण्डिताकेलिये. इस नीतिके अनुसार यह है.

भी श्रुत्यादिशास्त्रविहित नहीं है.

इस मार्गका सम्पूर्ण सौन्दर्य इसीमें निहित है कि यह मार्ग श्रुत्यादिशास्त्रविहित न होनेपर भी श्रुति–गीता–भागवत–तन्त्रादि शास्त्रोंसे विरुद्ध नहीं है. अतएव इस मार्गमें आश्रयणीय या भजनीय पुष्टिप्रभुको ''वैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिर्यः अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु सः मेऽस्तु सर्वस्वम्'' कहकर प्रभुचरणने श्रुत्यादिशास्त्रोंकी विधिमें न बंधनेवाला कहा. परन्तु यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि ऐसे पुष्टिप्रभुका आश्रय या भजन करनेवाले अपनी प्रारंभिक अवस्थामें भी शास्त्रके विधि–निषेधोंके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं. ''वैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिर्यम् अस्पृष्टाः रमयन्ति स मेस्तु सर्वस्वम्'' नहीं कहा है.

अतएव इस मार्गके आचार्य और अनुयायी दोनोंकेलिये महाप्रभु आज्ञा करते हैं: ''उपनयनादिकर्ता आचार्यः तदनुग्रहात् न वेदविरोधः...आचार्येणापि आगमएव पञ्चरात्रादिः प्रदर्श्यते'' (सुबो. ११।३।४८) तथा ''यावद् देहोयं तावद् वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्माः भगवद्धर्मादयोपि विधर्माः परधर्माः वा. यदा पुनरात्मानं जीवं मन्यते संघातव्यतिरिक्तं मन्यते तदा दास्यं स्वधर्मः'' (सुबो. ३।२८।२) एवं ''वेदशास्त्रविरोधेन येषां करणमण्वपि,ते हि पाषण्डिनो ज्ञेयाः शास्त्रार्थत्वेन वेषिणः''(त.दी.नि.सर्वनि.२८४).

अतः सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्गीय गुरुत्व या तान्त्रिक गुरुत्व वेदगीतापुराणादिसे विरुद्ध होनेपर अप्रामाणिक ही होते हैं. अतः ''अविहितत्वे सति अविरुद्धत्वम्'' इनके प्रामाणिक होनेकी कसौटी है. विमर्शकारने यत्रतत्र शिष्टाचार तथा महद्विमृग्य भक्तियोगका कुशकाशावलम्बन कर वृत्त्यर्थ भगवद्भजनको प्रामाणिक सिद्ध करनेका जो केसरिया किया है वह स्वयं महाप्रभुकी ''अविहितत्वे सति अविरुद्धत्वम्''की पुष्टिनीतिसे नितान्त अपरिचयका द्योतन है!

उत्सवप्रतानके अन्तर्गत भी अतएव श्रीपुरुषोत्तमजीने जन्माष्टमीनिर्णयमें जहां कलियुगमें सम्प्रदायरीति–शिष्टाचार–सदाचारका प्रामाण्य स्मृतिकी अपेक्षया उत्कृष्ट घोषित किया है वहां भी ''प्राचीन शिष्ट वैष्णवोंका'' ऐसे विशेषणका प्रयोग किया है तथा ''अवतारकालिकशिष्टानाम् अत्र विवक्षितत्वात्'' स्पष्टीकरण भी दिया ही है. अतः न तो शिष्टाचारका बहाना बनाकर शास्त्रविरुद्ध आचरणोंका समर्थन किया जा सकता है न अर्वाचीन शिष्टोंके आचरणको वेदोक्तकी तरह प्रमाण ही माना जा सकता है. स्वयं तन्त्रागमोंमें भी जहां वेदादिशास्त्रसे विरुद्धता प्रकट होती है वहां अपवादतया उनका अप्रामाण्य भी स्वीकारा गया है (द्र. अणुभा. २।२।४२–४५). जबकि उत्सर्गतया तन्त्रोंको 'एकायनश्रुति'के रूपमें माना जाता है. अतः ''साधूनां समयश्चापि प्रमाणं वेदवद् भवेद्''*

---

*साधुपुरुषोंके आचरण या वचन भी वेदकी तरह प्रमाण होते हैं.

वचन अतिदेशद्वारा ही केवल स्मृतिकी अपेक्षया शिष्टाचारको प्रबल मानता है. सो भी कलिवर्ज्यप्रकरणान्तर्गत विलुप्तपरम्पराक धर्मके स्वरूपनिर्णयार्थ व्यवस्थानिरूपक यह केवल स्मार्तवचन है. जबकि मनुस्मृति तथा तन्त्रोंके प्रमाण्यकी स्वीकृतिके वचन तो स्वयं श्रुतिवचन हैं.

ऐसी स्थितिमें पुष्टिसम्प्रदायमें श्रुतिकल्पवचनोंमें हमें महाप्रभु तथा उनके दोंनों आत्मजोंके वचन मान्य रखने चाहिये. स्मृतिकल्पवचनोंमें तदुत्तरकालीन व्याख्याकारोंके वचन तथा शिष्टाचारमें महाप्रभु–प्रभुचरणकालीन शिष्टोंके आचरणानुसारी अद्ययावत् प्रचलित आचरणको ही शिष्टाचारकी कोटिमें मान्य करना चाहिये. ऐसा कोई भी शिष्टाचार जो श्रौतस्मार्तकल्प वचनोंसे विरुद्ध हो उसका पक्ष लेते हुए कण्ठोक्त वचनोंकी अवहेलना बाललीला तो हो सकती है परन्तु विवेकपूर्ण कृत्य तो नहीं. क्योंकि जिस तरहके आचरणके बारेमें उसे जिन शिष्टोंसे चली आ रही किसी परम्परा होनेका अनुमान करके हम उसे शिष्टाचार

मान रहे हैं उन्हीं शिष्टोंके वचनोंसे वह आचरण यदि विरुद्ध हो तो विरोधपरिहारार्थ घटक वचन ''साधूनां समयश्चापि प्रमाणं वेदवद् भवेद्'' न रहकर ''ईश्वराणां वचः सत्यं क्वचिद् आचरितं तथा नैतत् समाचरेद् जातु मनसापि ह्यनीश्वरः विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोब्धिजं विषम्'' (श्रीमद्भाग. १०।३३।३२) वचन ही विरोधपरिहारघटकवचन माना जा सकता है. अन्यथा ''यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि'' (तैत्ति. उप. शिक्षा.) वचन निरवकाश ही हो जायेगा. इसका सुविशद विवेचन आगामी प्रकरण वार्ताविमर्शविशोधनिकामें किया ही जायेगा. अभी तो यहां केवल दिशानिर्देश ही किया जा रहा है. अस्तु.*

अतः कण्ठोक्त विधानोंसे निन्द्य देवद्रव्योपभोग तथा देवलकवृत्ति का पूर्वजाचारवश प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता, देवलकोंकी अशिष्टता सकलशिष्टकण्ठोक्ततया सकलसम्मत होनेके कारण ही! ऐसी स्थितिमें जो शिष्ट ही न हों उनका आचरण शिष्टाचारकी कोटिमें प्रामाण्यका वाहक हो नहीं सकता. केवल पूर्वजताको शिष्टताका पर्याय माना नहीं जा सकता. अन्यथा तपस्वी ऋषिओंके तपस्त्यागपूर्वक अप्सरारमणका भी शिष्टाचारतया प्रामाण्य स्वीकारना पड़ेगा! (किमधिकम् अविमृष्टकारिषु विमर्शकारेषु वा!).

इससे सिद्ध हुआ कि पुष्टिमार्गीय गुरुत्व या तान्त्रिक गुरुत्वमें भी वामतान्त्रिकता = पाषण्ड न पनपने पाये एतदर्थ ''अविहितत्वे सति अविरुद्धत्वम्''की

**जो समर्थ हैं उनके आचरणके बजाय वचनका प्रामाण्य अधिक होता है. उनका अनुकरण असमर्थोंको सोचे-समझे बिना मनसे भी नहीं करना चाहिये. अन्यथा महेश्वर होनेसे महादेवजीने विषपान किया और उनके अनुकरणार्थ कोई अनीश्वर मूढ़ मानव विषपान करना चाहे तो उसका विनाश ही होता है.*

सूक्ष्मताका भान अपेक्षित है ही. सो पुष्टिमार्गीय गुरुत्वके विचारसे पूर्व अब हमें तान्त्रिक गुरुत्वके विचारार्थ प्रवृत्त होना है.

अनपेक्षित विस्तार भी न हो जाये और तन्त्रागमोंका प्रमाणकोटिमें स्थान भी समझमें आ जाये एतदर्थ अधोलिखित सारणीपर केवल दृष्टिपात कर लेना उचित होगा:

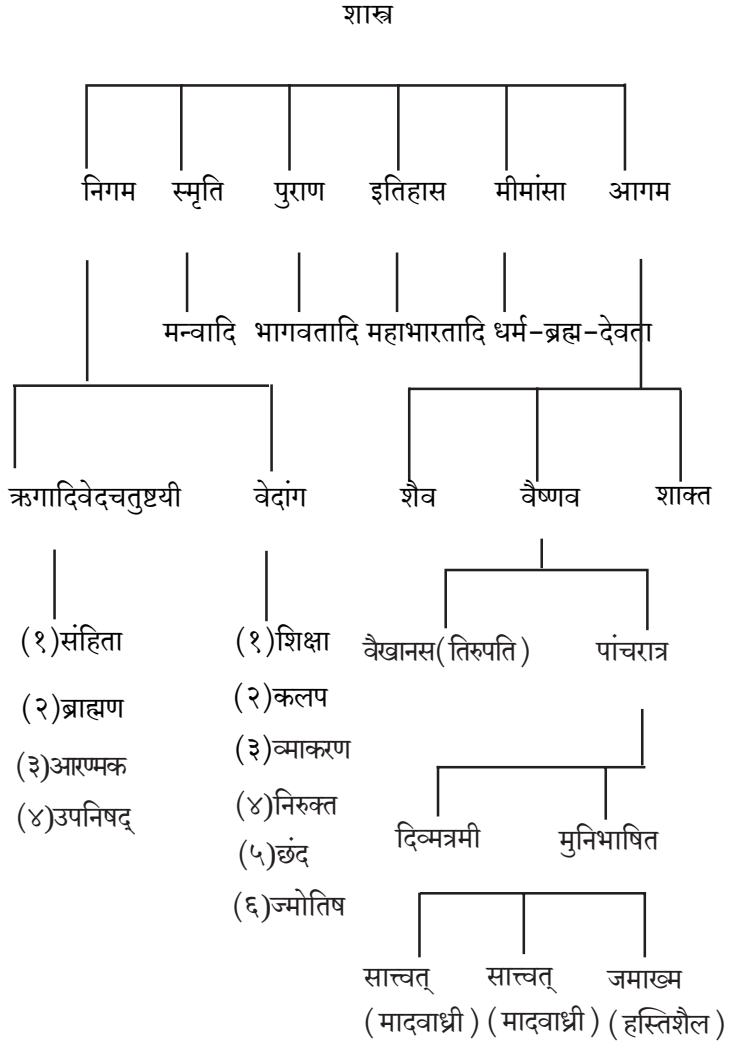

ांचरात्र शास्त्रके अन्तर्गत २००-२२५ संहिता या तन्त्रागम बताये जाते हैं जिनमेंके बहुत सारे तो प्रकाशित भी नहीं हुए हैं. इन तन्त्रोंका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषदमें भी अनेकविध विद्याओंके परिगणन प्रसंगमें ''ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, आथर्वण, पंचमवेदरूप इतिहास, पुराण, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्यं, एकायन, देवविद्या''के अन्तर्गत हुआ है. एकायनश्रुति 'पांचरात्रोपनिषद्' 'पांचरात्रश्रुति' 'पांचरात्रागम' 'पांचरात्रतन्त्र' आदि अनेक नामोंसे इनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोंमें

भी हुआ है. वैष्णवतन्त्रकी तरह शैव या शाक्त तन्त्र भी एकदेवप्राधान्यमूलक साधनाओंके उपदेश करते होनेके कारण 'एकायनश्रुति' कहे गये हैं – ऐसी विद्वानोंकी धारणा है. इनमें वैष्णवतन्त्रोंके अनुसारी साधकोंकेलिये 'सात्त्वत' 'भागवत' 'एकायन' 'एकान्ती' आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं. वैखानस तन्त्र और पंचरात्र तन्त्र का उपभेद भी अतिसूक्ष्म है. कहीं मिश्रित तो कहीं अमिश्रित रूपमें परस्पर एकदूसरेको कभी मान्य तो कभी अमान्य भी करते हैं.

पंचरात्र आगमोंमें प्रतिपाद्य विषयके निरूपणका एक ही प्रकार नहीं होता. कहीं आगम तन्त्र और तन्त्रान्तरके विभागशः तो कहीं ज्ञानपाद योगपाद क्रियापाद और चर्यापाद के विभागशः प्रतिपाद्य विषयका निरूपण किया जाता है. अहोरात्रमें सम्पन्न होनेवाली साधनाकी पांचकालिकी प्रक्रियातया (१) अभिगमन (२) उपादान (३) इज्या (४) स्वाध्याय (५) योग के रूपमें पञ्चविध कर्मोंके रूपमें उपदेश दिया जाता है.

पाञ्चरात्र तन्त्रोंके अनुसार भगवानके चार या पांच रूप वर्णित हुए हैं: (१) पर (२) व्यूह (३) विभव (४) अवतार (५) अर्चा. तो कहींपर (१) पर (२) व्यूह (३) विभव (४) अर्चा (५) अन्तर्यामी. या फिर (१) पर (२) व्यूह (३) हार्द (४) विभव (५) अर्चा भेद भी निरूपित हुए हैं.

इन भगवद्रूपोंकी आराधनाके तीन प्रकार दिखलाए गये हैं. यथा: (१) मानसपूजन (२) होमपूजन (३) बेर(प्रतिमा)पूजन. भगवानका अर्चारूप भी यथाक्रम त्रिविध स्वीकारा गया है: (१) आत्मलिंग (२) स्थण्डिल (३) द्रव्यलिंग (द्र. ''द्रव्यलिंगं शिलाद्यं स्याद् आत्मलिंगं मनोमयम् अथवा स्थण्डिलं चैव विष्णोर्लिंगं प्रकीर्तितम्'' विजयध्वजकृत पदरत्नावलीमें उद्धृत श्रीमद्भाग. ११।३।५१-५२). इसके अलावा शालिग्राम यन्त्र और कहीं पूर्ण कलशमें भी देवपूजनकी विधि वर्णित हुई है.

'बेर' 'लिंग' 'बिम्ब' 'मूर्ति' 'प्रतिमा' 'अर्चा' आदि नामोंसे अभिहित होते भगवद्रूपके चार भेद माने गये हैं. यथा – (१) स्वयं व्यक्त (२) दैव (३) सैद्ध (४) मानुष. भगवानके उन अनेक अर्चारूपोंमेंसे किसी भी तरहके रूपकी आराधना देवालय अथवा गृहमें हो सकती है:

मूल: सिन्धुतीरे सरित्कूले ग्रामे वा विपिनादिके।
जगता क्षेमलाभाय दुष्कृतां निधनाय च।।
संस्थितो वसुदेवस्तु परार्थ इति कथ्यते।

सएव सर्वफलद सर्वेषां मुक्तिदायकम्।
तस्मात् सर्वजनैः सेव्यः परार्थः पुरुषोत्तमः।।
ब्राह्मणैः क्षत्रियैः वैश्यैः शूद्राद्यैः स्वस्वसद्मनि।
स्थापितो देवदेवस्तु स्वार्थ इत्यभिधीयते।।
पश्वारामगृहक्षेत्रपुत्राद्याः स्वार्थसम्पदः।
तन्मात्रदानाद् तद्देव स्वार्थः सम्परिकीर्तितः।।
परार्थः सूर्यसदृशः स्वार्थस्तु गृहदीपवत्।।
(श्रीप्रश्नसंहिता ५३।१५१-१५७).

अनुवाद: सागरतटपर, नदीतटपर, गांवमें या उपवनादि (पत्तनमें या पर्वतपर)में जो स्वयंव्यक्त दैव सैद्ध अथवा मानुष वासुदेवविग्रह जगतके क्षेमार्थ एवं दुष्कर्मोंके विनाशार्थ संस्थित होता है उसे 'परार्थ' कहा जाता है. वही सर्वफलदाता होनेसे सभीको मुक्ति प्रदान करनेवाला होनेसे भी सर्वजनोंसे सेव्य 'परार्थ पुरुषोत्तम' कहलाता है. ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदिके अपने-अपने घरोंमें स्थापित देवदेवको 'स्वार्थ' कहा जाता है. गृह आराम क्षेत्र पुत्र पशु आदि स्वार्थ सम्पदा जो होती है केवल उन्हींके भगवदाराधनामें विनियोग करनेके कारण ऐसे देवस्वरूपको 'स्वार्थ' कहा जाता है. परार्थ भगवद्विग्रह सूर्यकी तरह होते हैं तथा स्वार्थ भगवद्विग्रह गृहदीपकी तरह होते हैं.

अपने मार्गमें भी यदि सेव्यस्वरूपकी स्वार्थ भगवत्प्रतिष्ठा हो तो सेवार्थ परद्रव्य नहीं लेना चाहिये और परार्थ हो तो ऐसे परार्थ देवालयमें आराधनार्थ प्रदत्त वित्त या वस्तुपर न तो गुरुका पूर्ण स्वत्व स्थापित होता है न भगवद्विग्रहपर ही और न सेवोपयोगी स्थलपर ही कभी.

स्वगृहमें स्थापित भगवन्मूर्तिका गांवमें महोत्सव करना भी निषिद्ध माना गया है. (द्र. नारद. संहि. २५।१४७).

स्वगृहमें स्थापित भगवन्मूर्तिका वृत्त्यर्थ विनियोग करनेवालेको सात्त्वतसंहिता (२१।१९-२०) में 'देवलक' कहा गया है:

मूल: गृहीत्वा भगवद्बिम्बं वृत्त्यर्थमटतीह यः।
नगरापणवीथीषु तस्य देवलकस्य च।।

दर्शनं स्पर्शनं नैव कुर्यात् संभाषणं तथा।

अनुवाद: स्वार्थ प्रतिष्ठापित भगवन्मूर्तिको लेकर जो नगरमें बजारमें गलिओंमे वृत्त्यर्थ भटकता रहता है (पुष्टिमार्गमें इससे भी निम्नकक्षापर जाकर हमने साधारण नागरिकोंको बजारु बनियोंको तथा गलिओंमें रखड़नेवाले लुच्चे लफंगोंको भी स्वगृहमें स्थापित भगवत्स्वरूपकी दर्शन-प्रसाद-भेंट-सामग्री-समाधानात्मिका पंचधा भगति करवानेके लिये अपने घरोंमें रखड़ते बना दिये हैं, वृत्त्यर्थ और केवल वृत्त्यर्थ ही) ऐसे देवलकका दर्शन स्पर्शन या उसके साथ सम्भाषण भी नहीं करना चाहिये.

इस श्लोकोंपर भाष्य करते हुए अलशिंग भट्टने मज़ेदार खुलासा दिया है- ''स्वगृहे समाराध्यं भगवद्बिम्बम् आदाय द्रव्यार्जनार्थं नगरादिषु सञ्चरमाणस्य देवलकस्य दर्शनादिकमपि न कार्यम् इति आह 'गृहीत्वा' इति सार्धेन. ननु एतद् मन्दिरस्थभगवद्बिम्बविषयमपि स्याद् इति चेत् न, तस्य राजाधीनतया बहिर्द्रव्यार्जनार्थम् आनेतुम् अशक्यत्वात्, तत्र तादृशशंकायाएव अनवकाशात्''. अर्थात् द्रव्योपार्जनार्थ स्वगृहमें समाराध्य भगवत्स्वरूपको लेकर जो नगरादिमें रखड़ता है ऐसे देवलकका मूंह भी नहीं देखना चाहिये यह बात 'गृहीत्वा...' डेढ़ श्लोकसे कही जा रही है. यहां शंका होती है कि मन्दिरमें बिराजमान भगवत्स्वरूपके बारेमें भी यही बात क्यों नहीं कही गई ? इस शंकाका समाधान यह है कि परार्थ प्रतिष्ठापित देवालय सरकारी देखभालमें होते हैं, अतः कोई एक व्यक्ति ऐसे मन्दिरोंमें बिराजमान भगवत्स्वरूपको निजी आजीविकाके उपार्जनार्थ मन्दिरसे बाहर ला ही नहीं सकता है.''

इससे सिद्ध होता है कि तथाभिनन्दित पु.सि.सं.शि.बालककी कविजनोचित कल्पनाचापल्यके विपरीत आंबेडकरस्मृतिके अनुसार ही नहीं अपितु प्राचीन तन्त्रशास्त्रके अनुसार भी परार्थ देवालयपर सरकारी नियंत्रण रहता ही था! अविमृष्टकारी विमर्शकारने ट्रस्टप्रकरणके अन्तर्गत ''श्रीनाथजीका मन्दिर शास्त्रोक्त विधानसे उत्सृष्ट नहीं अतः वह सार्वजनिक नहीं है, शास्त्रविरुद्ध कल्पित नियमोंसे सार्वजनिकता नहीं होती''(विमर्श पृ.६४-६५) -ऐसा मनघड़ंत कारण सार्वजनिकताका खोज निकाला है! वैसे शास्त्रतः यदि परार्थ- परद्रव्यसे भगवदाराधनावाला -हो तो सार्वजनिक मानना पड़ेगा तथा सार्वजनिक न मानना हो तो स्वद्रव्यसे भगवदाराधनावाला स्वार्थ मानना पड़ेगा. श्रीनाथजीके मंदिरकी तरह अन्य भी पू.पा.म.श्रीओंके ठाकुरजीको स्वार्थ-परार्थ माननेके पक्षको स्वयं

विमर्शकार 'पु.सि.सं.शि.'पदवीसे विभूषित कर चुके हैं. अतः चोर के भग जानेपर चपरासीके जगनेकी ही कथा यहां भी प्रकट हो रही है.

इसमें स्वयं विमर्शकारकी मानसिक द्विधाग्रस्त हृदयग्रन्थि ही प्रकट होती है. एक ओर वे कहते हैं: ''सार्वजनिक ट्रस्टमें सबको अधिकार (अनपेक्षित अधिकार) प्राप्त होनेसे गुरुभक्ति शिथिल होकर बहिर्मुखता प्राप्त होती है'' (विमर्श पृ.६४). विमर्शकारका भय यहां बोल रहा है. दूसरी ओर सेव्यस्वरूप सेवास्वरूप सेवास्थलस्वरूप सेवार्थ विनियोगार्ह वित्तस्वरूप सम्बन्धी सिद्धान्तोंकी सुरक्षाके बजाय ''भगवत्सेवोपयुक्तसम्पत्तिसुरक्षाहेतु केवल ट्रस्टका बाह्य स्वरूप देनेवालोंपर आक्षेप करना उचित नहीं है'' (विमर्श पृ.६५) विधानद्वारा अपनी निर्दोषतासिद्धिका मोह भी विमर्शकारको सता रहा है; वह ट्रस्ट जिस परद्रव्यांगीकारवश होता है उसके लोभपर काबू न पानेकी विवशताके साथ-साथ!

इसका परिणाम इन्हीं पृष्ठोंपर प्रकट हुआ है: विमर्शकारने ''श्रीनाथजीका मन्दिर वैयक्तिक'' शीर्षकके अन्तर्गत ''तब श्रीआचार्यजी कारीगरसों कहे हमारे ठाकुरको मन्दिर शिखरबन्द-धुजा-कलशको नाहीं'' बस इतनेसे अपूर्ण वचनको उद्धृत करके लालजी जीत्याकी झांझ बजा दी है.

वैसे सम्पूर्ण उल्लेख यों है- ''तब श्रीआचार्यजी कारीगरसों...नंदराईजीके घरकी नांई करो. तब कारीगरने दूसरी बेर घरकी नांई कियो. तब श्रीआचार्यजीके हस्तमें नकसाको कागद आयो. तब उही सिखरबन्द धुजाकलशसहित! तब श्रीआचार्यजी कहे- सिखरबन्द क्यों किये ? तब कारीगरने कही- महाराज, हम तो घरकी नांई किये हते; सो अब सिखरबन्द धुजाकलशसहित भयो ताको कारण तो हम जानत नाहीं. तब श्रीआचार्यजी कहें- हम बैठे हैं, हमारे आगे नकसा तैयार करो. तब कारीगरने घरकी नांई जैसे श्रीआचार्यजी कहें ता रीतिसों कियो. तब नकसा तैयार भयो तब उही सिखरबन्द धुजा कलश चक्र व्हे गयो. तब श्रीआचार्यजी जानें जो श्रीठाकुरजीकी इच्छा यह है जो जगतमें पूजाय बहोत जीवको उद्धार करेंगे. (तुलना करिये: ''जगतां क्षेमलाभाय दुष्कृतां निधनाय च संस्थितो वासुदेवस्तु परार्थ इति कथ्यते'' श्रीप्रश्न.संहि. ५३।१५१-१५७). सो देवालयकी रीति यहां राखनी उचित है.'' (८४ वैष्णवकी वार्ता २४।१).

इस सन्दर्भमें पौष्करसंहिताके अन्तर्गत परार्थ देवालयोंकी सूचिमें यह वचन भी अवलोकनीय है: ''यत्र तत्र भूभागे यो यः सार्वेश्वरं वपुः...गिरौ गोवर्धनाख्ये

तु देवः सर्वेश्वरो हरिः संस्थितः पूजिते स्थाने गवां निष्क्रमणेषु च'' (श्रीपौष्कर.संहि. ३६।२९५-३३४).

तुलनीय: ''सो प्रातःकाल भयो तब १०-१५ वृद्ध ब्रजवासी मिलि उह गायके पीछे गये सो गाय उह छेदमें दूध करि पर्वततें नीचे उतरि. . . तब में पूछ्यो जो तू कौन है? तब उन कही- में पर्वतको देवता हुं, देवदमन मेरो नाम है. . . पाछे मंदिर समरायवेकी आज्ञा पूरनमलकों करी. . . तब श्रीआचार्यजी सदु पाण्डेसों कहे- और कोउ बिचारो. तब सदु पाण्डेने कही- राधाकुण्ड कृष्णकुण्ड पर बंगाली हैं; कहो तो बुलाउं. तब श्रीआचार्यजी कहे- बुलाओ.'' (८४वैष्णवकी वार्ता ७३।१). अस्तु.

जैसे आराध्य भगवद्विग्रहके स्वार्थ और परार्थ दो प्रकार होते हैं इसी तरह अर्चनाके भी स्वार्थ और परार्थ दो प्रकार स्वीकारे गये हैं:

मूल: वैदिकं ब्राह्मणानां हि राज्ञां वैदिक-तान्त्रिकम्।
तान्त्रिकं वैश्यशूद्राणां सर्वेषां तान्त्रिकं तु वा।।
(विष्वक्.संहि. ३९।३१६).
आत्मार्थं वैदिकेनैव तान्त्रिकेनैव वा मुने।
परार्थे तान्त्रिकेनैव मिश्रितं वा हरिः परम्।।
अर्चयेत् पूर्ववद् धीमान् राज्ञो राष्ट्रस्य वर्धनम्।
परार्थे वैदिकेनैव न कुर्यात् तु कथञ्चन।।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मिश्रितं तान्त्रिकेण तु।
स्वार्थ आवाहनं कुर्यात्.....
अशक्तोऽनधिकारी वा स्वार्थं यः कारयत्यपि।
परेण तत्कुलं (तत्कृतं) सर्वं स्वकुलं तारयिष्यति।।
(विष्वक्.संहि. २०।३४४-३५०).

अनुवाद: ब्राह्मणोंको वैदिक प्रकारसे, क्षत्रियोंको वैदिक-तान्त्रिक-मिश्रितप्रकारसे, वैश्य-शूद्रोंको केवल तान्त्रिक प्रकारसे; अथवा सभीको केवल तान्त्रिक प्रकारसे भी अर्चन अनुमत है. (विष्वक्.संहि. ३९।३१६).

स्वार्थ अर्चनामें केवल वैदिक प्रकार अथवा केवल तान्त्रिक प्रकारमेंसे यथेष्ट प्रयोग अनुमत है. परार्थ अर्चनामें (परके अद्विज होनेपर) केवल

तान्त्रिक प्रकार अथवा (द्विज होनेपर) मिश्रित प्रकार अनुष्ठेय होता है. परार्थ अर्चनामें केवल वैदिक प्रकार कभी भी अपनाना नहीं चाहिये. जो अशक्त अथवा अनधिकारी हो वह किसी अन्य अधिकारीसे अर्चना करवा सकता है. ऐसी स्थितिमें परकुल (परकृत!) भी सब कुछ स्वकुलका तारक हो सकता है. (विष्वक्.संहि. २०।३४४-३५०).

स्पष्ट है कि यह वह अनुमति है जो तन्त्रशास्त्रतः प्रसक्त है कि जिसका प्रतिषेध ''वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका एतादृशेन पुंसा कृता चापरा -एतादृशयौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्'' तथा ''तत्र ऋत्विग्दक्षिणावरणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वात्. अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्'' वचनोंद्वारा प्रभुचरण तथा श्रीपुरुषोत्तमजी ने किया है.

ऐसी स्थितिमें तन्त्रशास्त्रके अनुसार पुष्टिमार्गीय भगवद्भजनका प्रकार विहित नहीं है -यह स्पष्ट हो जाता है. साथ ही साथ विरुद्ध भी कहीं न हो जाये कि सारेके सारे पुष्टिमार्गीय गुरु शास्त्रतः अदर्शनीय असम्भाषणीय एवं अस्पृश्य कहीं सिद्ध न हो जायें -इसकी सावधानी भी हमें लेनी ही पड़ेगी. एतदर्थ देवद्रव्य तथा देवलकत्व के विचारांगतया सर्वप्रथम चार तत्त्वोंके स्वरूप आवश्यकतया निर्धारणीय हैं: (अ) द्रव्यदाताका स्वरूप (आ) द्रव्यदानके प्रकारोंका स्वरूप (इ) कर्मीभूत देय द्रव्यका स्वरूप (ई) सम्प्रदानीभूत देवका स्वरूप.

(अ) द्रव्यदाताका स्वरूप

तदनुसार सर्वप्रथम द्रव्यदाताके स्वरूपविचारके अन्तर्गत प्रथम प्रकरणमें हमने देखा कि द्रव्य देनेवाले तथा द्रव्य लेनेवाले दोनोंका दीयमान द्रव्यपर अविभक्त स्वत्व हो तो ऐसे लेने-देनेके कारण देनेवालेके स्वत्वकी निवृत्ति ही नहीं होती और न लेनेवालेके पूर्वसिद्धस्वत्वसे अतिरिक्त नूतन किसी स्वत्वकी उत्पत्ति ही होती है. यह अविभक्तस्वत्व यथाशास्त्र जैसे एक परिवारके सदस्योंके बीच हो सकता है वैसे ही लोकरीतसे कभी-कभी एक परिवारके सदस्य न हों फिर भी आजीविकार्थ सम्भूय समुत्थान(पार्टनरशिप)वश या सख्यादिभावप्रयुक्त साहचर्यवश भी हो सकता है. इसका थोड़ा-बहुत विचार प्रथम प्रकरणमें हो ही चुका है. अन्य भी कुछ विवक्षित स्पष्टताएं यथाप्रसंग आगे चलकर की ही जानी हैं.

(आ) द्रव्यदानके प्रकारोंका स्वरूप

द्रव्यदानके किन प्रकारोंमे स्वत्वनिवृत्ति होती है और किन प्रकारोंमें नहीं – यह प्रथम प्रकरणमें सुविशदतया निरूपित किया जा चुका है. अतः पिष्टपेषण अनावश्यक है.

(इ) कर्मीभूत देय द्रव्यका स्वरूप

देय द्रव्यका स्वरूप शास्त्रोंमें अनेकधा निरूपित हुआ है. उसपर दृष्टिपात अब यहां आवश्यक हो जाता है.

इस सम्बन्धमें कुछ तो शुक्ल – शबल – कृष्णधन तथा सत्प्रतिग्रहके सन्दर्भमें उपक्रम, ब्राह्मणत्व तथा वैदिक गुरुत्वके परिच्छेदोंमें देख ही चुके हैं. अतः उससे आगे बढ़कर अब देय द्रव्यके स्वरूपको समझ लेना प्रसंगोपात्त बनता है.

मनुस्मृतिके प्राचीनतम व्याख्याकार मेधातिथिके अनुसार वैसे श्रौत स्मार्त कर्मके सन्दर्भमें तो देवद्रव्य या देवस्व जैसा कुछ भी होता ही नहीं है. वे कहते हैं– ''देवान् उद्दिश्य यागादिक्रियार्थं धनं यद् उत्सृष्टं तद् देवस्वं, मुख्यस्य स्वस्वामिसम्बन्धस्य देवानाम् असम्भवात्. न हि देवता इच्छया धनं नियुञ्जते. न च परिपालनव्यवहारः तासां दृश्यते. स्वं च लोके तादृशम् उच्यते. तस्माद् देवोद्देशेन यद् उक्तं 'न इदं मम; देवताया इदम्' तद् देवस्वम्. तच्च दर्शपूर्णमासयागेषु अग्क्यादिदेवताभ्यः चोदितं शिष्टसमाचारप्रसिद्धचैव गौणोपायदुर्गादियागेषु. ननु चतुर्भुजादिप्रतिमासम्बन्धि लोके देवस्वम् उच्यते... मुख्यं चतुर्भुजादिनां देवत्वं 'प्रतिमा' व्यवहारेणैव अपहृतम्'' (मेधातिथि ११।२५). अर्थात् देवताओंको उद्देश्य बनाकर यागादि क्रियाओंके लिये जो धन उत्सृष्ट हो उसे 'देवस्व' समझना चाहिये. क्योंकि देवताका मुख्य अर्थमें स्वामित्व तो किसी द्रव्यपर हो ही नहीं सकता है. क्योंकि न तो देवता अपनी इच्छाके अनुरूप उस धनका कहीं विनियोग कर सकते हैं न अपने धनकी सुरक्षा रखने अर्थात् परिपालनका ही वे देवता कोई काम करते हैं. लोकमें द्रव्यपर स्वामित्व उसे अपने पास संभाले रखने या यथेष्ट खरचने के अधिकारपर ही स्वीकारा जाता है. इससे यह सिद्ध होता है कि देवताको उद्देश्य बनाकर 'यह मेरा नहीं; देवताका है' जिस द्रव्यके बारेमें कहा–सोचा जाता हो उसे 'देवस्व' समझना चाहिये. वह जैसे दर्शपूर्णमास आदि यागोंमें अग्नि आदि देवताओंकेलिये कहा जाता है वैसे ही गौणोपासनाओंमें दुर्गा आदिके यागोंमे भी शिष्टाचारवशात् प्रसिद्ध है. यहां शंका होती है कि चतुर्भुजादि–प्रतिमाओंके साथ सम्बन्धवाले द्रव्यको 'देवस्व' कहा जाता है. . . चतुर्भुजादिको

जो 'प्रतिमा' कहा जाता है इसीसे सिद्ध हो जाता है कि वे मुख्य अर्थमें देव नहीं हैं.

अतएव यहां व्याख्या लिखते हुए भारुचिने भी यह स्पष्ट किया है कि देवताओंको जब ममता ही नहीं होती तो कोई वस्तु देवस्व कैसे हो सकती है ? अतः शास्त्रोक्त देवस्व तो सम्प्रदानीभूत देवताको सम्प्रदान यजनमात्रकालकेलिये ही क्षणिकमात्र होता है. देवताके उपभोगानन्तर वह देवस्व नहीं रह जाता. इससे यह सिद्ध होता है कि यज्ञार्थ मांगा गया द्रव्य यज्ञार्थ ही उपभोगमें लाना चाहिये. अपने उपभोगमें लानेकेलिये कुछ भी बचाना नहीं चाहिये.

इससे सिद्ध होता है कि श्रौत–स्मार्त कर्मोंमें देवता कर्मांग होता है, अर्थात् देवतांग कोई कर्म नहीं होता है. (द्र.''यागे तु पुनः स्वर्गः फलत्वेन अभिमत इति केवलं देवतायाः उद्देश्यताभावाद् अवान्तरव्यापारविवक्षार्थम्... अतो द्रव्येण प्रीता देवता व्यापारः ...''– सुबो.२।५।१५. अर्थात् श्रौत यागोंमें फलत्वेन अभिमत स्वर्ग होता है अतः केवल देवता उद्देश्य ही नहीं होते, अतः उन्हें अवान्तरव्यापारके रूपमें उद्देश्य बनाया जाता है. द्रव्याहुतिसे प्रसन्न देवता स्वर्गरूप फलप्राप्तिका व्यापार बनते हैं). अतः तन्त्रोंमें परार्थ देवालयोंमें जहां अर्चा–प्रतिमाका पूजन दिखाया गया है वहां न तो पूजनके बाद देवताका विसर्जन किया जाता है न वह मूर्ति पूजनांग देवमूर्ति होती है. अतः श्रौतकर्मोंमें जैसे यज्ञार्थ भिक्षित यज्ञमात्रोपयोगी होता है स्वोपभोगार्ह नहीं, वैसे ही तन्त्रमें जहां पूजनोत्तर स्वयं देवविसर्जन न हो जाता हो वहां देवार्थ याचित–प्राप्त धन देवैकभोगार्ह हो सकता है, स्वोपभोगार्ह नहीं.

इसमें भी पुनः कोई वस्तु या सामग्री सकृद् उपभोगके बाद पूर्णतः उपभुक्त हो जानेसे पुनः उपभोगार्थ अनिवेदनीय भी हो जाती है. अन्य कुछ असकृदुपभोगसे भी पूर्ण उपभुक्त न होनेसे पुनः पुनः उपभोगार्थ निवेदनीय भी रह सकती हैं. प्रथम प्रकारके देवद्रव्यकी तुलनामें द्वितीय प्रकारके देवद्रव्यकी भिन्न व्यवस्था दिखलाई गई है. यथा –

प्रश्नः देवद्रव्यं१ तु किं नाथ देवस्वं२ च किमुच्यते।
गणान्नं (देवान्नं)३ निषिद्धं यद् भक्तानां भक्तवत्सलः।।

उत्तरः यत्कोशे विद्यते किञ्चित् पत्रा(वस्त्रा)लंकारपूर्वकम्।
लग्नं च भवमूर्तौ च तत्प्रसादेन ममान्तरे।।

(लग्नं विभवमूर्तौ च प्रसादे 'न ममा'ऽन्तरे!)
विपणे च तदीये च देवद्रव्यं तु विद्धि तत्१।।
नगरग्रामपर्यन्तविषये गोगजादयः।
शालिसस्येक्षुपुष्पाद्या दासीदासा कुटुम्बिनः।।
स(त!)त्सम्बन्धं च वाणिज्यं सपुत्रपशुबान्धवम्।
देवस्वं च विरुद्धं यत् सिद्धानामपि पापकृत्।।
स्वदत्तं परदत्तं वै यत्नात् तत्परिवर्जयेत्।
दोषदं चापि माद्यस्मा(क्स्या!)दक्षय्यनरकप्रदम्।।
प्राक्प्रवृत्तमतस्तस्मिन् निर्बन्धा देवतागृहे।
प्रयत्नात् पोषणी(यत्वं याति!)यं च यो नूनं यथायथ(थम्!)।।
प्रवृत्तकार्याकारणात् वैष्णवायतनेषु च।
प्राप्नोति सुमहद् दोषं राजा राजपदेषु च२।।
. . . . . .

प्रश्नः *दानं सम्प्राशनं प्रोक्तं देवान्नस्य पुरा त्वया।।*
तस्याधुना जगन्नाथ निषेधः कथ्यते कथम्।

उत्तरः *प्राक् साधितं च यागार्थं देवतानां प्रयत्नतः।।*
तत्सन्तर्पणपर्यन्तं यावद् देवान्नमुच्यते।
अन्यथा भक्षणं तस्य यदि मोहात् कृतं भवेत्।।
प्रायश्चित्तशतैः चीर्णैः शुद्धिर्भवति मानवः।
मन्त्रसन्तर्पणादन्ते याजिनां यजतां वर।।
पावनं शुद्धिदं पुण्यं भूतिभृत्यभिवृद्धिदम्।
भक्षणं यद्यपि प्राप्तं नैवेद्यस्य स सर्वदा।।
गुर्वादीनां तथान्येषां भक्तानां तत्त्वतोऽब्जज!
तत्रापि साधकानां च निषिद्धं वन्दनं विना।।

प्रश्नः *हेतुना केन भगवन् निषिद्धं साधकस्य च।*
मन्त्रपूतं तु नैवेद्यमत्र मे संशयो महान्।।

उत्तरः *नाप्रार्थितं गृहीतव्यं पुष्पमात्रं कदाचन।*
स वै मन्त्रेण विभवाद् ग्राह्यं केचिद् दिगाजिना (किञ्चिद् द्विजादिना!)।।
नैवेद्याद्यखिलानां च भोगानां भावितात्मनाम्।
गुरुणा प्रार्थना कार्या मन्त्रेशस्य पुनः पुनः।।
स सर्वतः स्वतन्त्रत्वात् तत्सिद्धत्वात् न दोषभाक्।
. . . . . .

फलपर्यवसानं च सेवार्थं यः समुद्यतः।
न तेन प्रार्थना कार्या स्वल्पेप्यर्थे नृपस्य च।।
सम्प्रयच्छते प्रसन्नश्चेत् स्वयं तुष्टमथो यदि।
प्रसादमिति वै ब्रूयात् शिरसा चाभिनन्दयन्।।
. . . . . .

मण्डलावयवेशानां बाह्याधारसशक्तिषु।।
गुर्वादिकालनाथानां दत्तं यद् विभवे सति।
दद्यात् तद् ब्रह्मचारीणां भक्तानां भवितात्मनाम्।।
हृदयादिदिगन्तानामंगानां यत् निवेदितम्।
श्रियादिमूर्तिकान्तानां तथा व्यूहाख्यमूर्तिषु।।
विहितं पुत्रकाणां तद्दानकर्मणि सर्वदा।
चक्राद्यायुधजातस्य मन्त्रोपकरणस्य च।।
. . . . . .

गणचक्रदिगीशास्त्रद्वास्थानां क्षेत्रियस्य यत्।।
दत्तं तत् क्षेत्रियादीनां वैष्णवानां विभज्य च।
एतद्विसर्जनाद् पूर्वं विहितं कमलोद्भव।।
प्रतिषिद्धं च सर्वेषां मन्त्रचक्रे विसर्जिते।
यस्मादायान्ति भूतानि कोटिशः समनन्तरम्।।
विष्णुपार्षदपूर्वाणां तादर्थ्येनाब्जसम्भव।
. . . . . .

दत्तशिष्टमतस्सर्वं दत्तं वाप्यव्ययाक्षयम्।
समभृत्य च निष्पिष्य ह्यगाधेम्भसि यत्नतः।।
अर्चासंरुद्धमन्त्राणां दत्तस्य विहितं सदा।
दानं तदाश्रितानां वै भूतानां पूर्वरूपिणाम्।।
तत्सेवकानां च तथा नृत्तगेयरतात्मनाम्।

. . . . . .

तस्मान्मन्त्रेश दृक्पूतं नैवेद्यं पावनं परम्।

. . . . . .

यद्यप्येवं महत् तस्य तथापि कमलोद्भव।
प्रदानाच्चोदनाच्चैव श्रेयांस्त्यागो हि पूर्ववत्।।
न येन लोभो लोकस्य दोषस्योपरि सम्भवेत्।
भवेत् तल्लाभमुक्तानामतीव विमला मतिः।।३

(श्रीपौष्क.संहि. २०।८४-१२१).

विस्तारभयसे अनुवादके बजाय इस लंबी श्लोकावलीका सारांश यह ज्ञातव्य है कि (१) देवद्रव्य (२) देवस्व तथा (३) देवान्न - तीनों ही मुख्यकल्पतया तो भक्तोंकेलिये स्वोपभोगार्थ उत्सर्गतः वर्ज्य ही हैं. फिर भी अपवादतः कहीं किन्हीं को जो छूट दी है उसे भी न लेकर अपनी लोभवृत्तिपर काबू रखा जाये तो मति विमल रह पाती है.

(१) देवमूर्तिको साक्षात् धराये जाते अथवा धराने लायक देवालयके कोशमें रखे हुए वस्त्रालंकारादि अथवा जो देवमूर्तिको ''न मम'' कहकर धराया गया हो ऐसा प्रसाद भी अथवा देवमूर्तिके विपणमें अवस्थित हो उसे भी देवद्रव्य समझना चाहिये.

(२) स्वदत्त या परदत्त नगरग्राम आदिमें गाय हाथी आदि पशु खेत खलिहान वाटिका गोचरभूमि आदिमें उगे गन्ना तृण पुष्प वनस्पति आदि दासीदास उनके कुटुम्बी मानव तत्सम्बन्धी वाणिज्य आदि जड़द्रव्य या सामग्री जो देवाराधनामें परम्परया उपभोगमें आनेवाली हों उन्हें 'देवस्व' कहा जाता है. इनको अपने उपभोगमें लाना सिद्धों(महाभागवतों)केलिये भी अक्षय्य नरकप्रद पापका जनक

ही होता है. इनकी सुरक्षा रखना राजा या राज्यका उत्तरदायित्व है (यह धर्मनिरपेक्ष नहीं, धर्मसापेक्ष कानून है!).

(३)देवान्न जब तक देवोपभुक्त न हो जाये तब तक सर्वथा अग्राह्य ही होता है. देवमूर्तिकी आराधनामें उपभोगके बाद उपभुक्त प्रसादको यथाकथञ्चित् लेनेका हर किसीको अधिकार नहीं होता किन्तु विभव-व्यूह-श्री-ण्डलके भीतरी अथवा बाह्य आवरणमें अवस्थित चक्रादि आयुध-द्वास्थ पार्षद आदिको निवेदित अन्नको कौन किस विधिसे ले सकता है और कौन नहीं कैसे नहीं या कब नहीं ले सकता है - इस बारेमें स्वच्छन्दता बरती नहीं जा सकती है. अन्यथा उपभुक्त प्रसादके ग्रहणमें भी दोष लगता ही है.

सत्सिद्धान्तमार्तण्ड(प्रश्न ५।८)में श्रीगड्डुलालाजीद्वारा उद्धृत नारदवचनके अनुसार भी (१)देवस्व(२)देवद्रव्य(३)देवनैवेद्य(४)देवनिवेदित का भेद भी विष्णुपूजनके सन्दर्भमें ही दिया गया ही है. जैसाकि यहां श्रीपौष्करसंहितामें वचनमें हम देख चुके हैं.

पूर्वप्रकरणमें निवेदन-समर्पण-दानका प्रभेद समझाया ही गया था. तदनुसार जब सकृदुपभोगके बाद निरसनीय अन्नवस्त्रपुष्पादिपर अथवा असकृदुपभोगार्ह सुवर्ण-रजत-पात्र-रत्नालंकार-वस्त्र-गोगजादिपशु-भूमि-क्षेत्र-पण्यादि वस्तुओंपरसे अपना स्वत्व निवृत्त करके निजगृहस्थित या देवालयस्थित भगवद्विग्रहका स्वत्व कोई स्थापित करता है तब वह द्रव्य देवद्रव्य बन जाता है.

भारुचिने जैसे कि कहा है कि देवतोपभोगकाल क्षणिक होता है, अतः देवस्वत्व केवल सम्प्रदानकालिक अर्थात् क्षणिक ही होता है शाश्वत नहीं - वह यागहोमार्थ मन्त्राहूत देवताओंको लक्ष्यमें रखकर किया गया विधान है. मेधातिथिका भी '' 'प्रतिमा'शब्दप्रयोगवशात् प्रतिमामें गौण देवत्व होता है'' विधान श्रौतकर्मके सन्दर्भमें है. तान्त्रिक कर्ममें प्रतिमागत देवत्व गौण नहीं माना गया है. अतएव जबतक देवप्रतिमा विद्यमान हो तबतक देवस्वत्व भी विद्यमान रहता ही है. अतएव देवार्चनको आजीविका बनानेसे जैसे देवलकता आती है, वैसे ही देवद्रव्य-देवस्वोपभोगसे भी कथञ्चिद् देवलकता आती ही है. देवस्व या देवद्रव्य के बारेमें स्वदत्त-परदत्तका प्रभेद नहीं है, जैसी कि बाललीला विमर्शकारने प्रदर्शित करनी चाही है.

अतएव श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धमें सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा है- ''यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत सुरविप्रयोः वृत्तिं स जायते विड्भुग् वर्षाणामयुतायुतम्.

कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च, कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत् फलम्'' (श्रीमद्भाग. ११।२७।५४-५५). अर्थात् स्वयंदत्त अथवा परप्रदत्त सुरवृत्ति अथवा विप्रवृत्ति का जो हरण करता है वह हजारों वर्ष विष्ठा खानेवाले सुअरकी अथवा विष्ठामें पैदा होनेवाली कृमिकी योनिमें जन्म लेता है. स्वदत्त परप्रदत्त देववृत्ति अर्थात् देवद्रव्य या देवस्व का जो अपहरण करता है, या उसमें

सहयोग देता है अथवा (विमर्शसदृश ग्रन्थके प्रकाशनद्वारा) उनका अनुमोदन करता है उसके कर्ताको जो फल मिलता है सो तो मिलता है और अधिक भी मिलता ही है. यहां व्याख्या करते हुए विजयध्वज कहते हैं: ''देवस्वापहरणे महान् दोषः इति आहः 'यः' इति. न केवलं प्रतिमादिपूजाकर्तुः उक्तं फलं साहाय्यकर्तृणां यथायथं फलं भवति''.

स्पष्ट है कि यह सारा सन्दर्भ काली-भैरव-शिवपूजक धाडीओंके लिये नहीं प्रत्युत वैष्णवोंकेलिये ही है. ''वैष्णवद्वारा देवार्थ प्रदत्त गोस्वामी स्वयं ले सकते हैं'' इस मान्यताकी भी यहां कठोरतम शब्दोंमें निन्द्यता ही सिद्ध होती है. न केवल इतना अपितु देवद्रव्य न खानेपर भी विमर्शसदृश ग्रन्थलेखनद्वारा अनुमोदनका भी फल अतिशय निन्द्य ही माना गया है. जिस देवान्नके देवोपभोगानन्तर उपभोगमें निर्दोषता निरूपित की गई है, वह भी अन्न यदि देवार्थ उत्सृष्ट न हो तभी (अर्थात् देवोद्देश्यक देवस्वामिक या देवालयकोशीय द्रव्यसे सिद्ध न किया गया हो तभी) देवस्वापहार दोषसे हमें बचाता है. अतएव याज्ञवल्क्यस्मृति (आचाराध्याय ६।१६३)में देवकोशोपजीवीकी भी 'सुधाजीवी'के रूपमें निन्दा की गई है.

'देवनैवेद्य'पदमें 'नैवैद्य'पद स्वयं निवेदनक्रियाके विषय होनेके स्वभावको सूचित करता है. अतः व्युत्पत्तिबलसे ही उत्सर्गतया नैवेद्यमें देवस्वामिकता देवनिवेदनसे पहले रहती ही है. अपवादतया, परन्तु, भोगसामग्रीके स्वयं ही देवद्रव्यसे निष्पन्न होनेपर तो वह देवद्रव्य ही रहती है. अन्यथा समर्पित होनेपर देवोपभोगके बाद देवद्रव्यत्व उसमेंसे निवृत्त हो जाता है. अर्थात् सुवर्ण रजत रत्न भूमि क्षेत्र पण्यादि वृत्तिपरसे जब कोई सुवर्णादिके दाताने स्वस्वत्व निवृत्त करके भगवत्स्वत्व स्थापित किया हो तब वे देवस्व बनते हैं. ऐसे देवस्वद्वारा जब भगवानको धरे नैवैद्यका प्रसाद लेना देवस्वापहरण ही होगा. ''प्रसादे 'न मम'ऽन्तरे'' वचनद्वारा तथा सोनाकी कटोरीके प्रसंगमें तथा संतदास-किशोरीबाई-आशकरणदासजीकी वार्ताओंका भी रहस्य यही था. अतएव श्रीगट्टुलालाजीने

''अथ भगवतः उपायनत्वेन निवेदितं सुवर्णरजतपात्राभरणाश्वभूम्यादिकं तु स्वार्पितं परार्पितं नैव ग्राह्यं, देवस्वत्वात्'' (सत्सि.मार्त. ५।७) कहकर परार्पितकी भी अग्राह्यता स्पष्टतम शब्दोंमे स्वीकारी ही थी परन्तु, अतएव, विमर्शकारको सम्भवतः श्रीगट्टुलालाजी शिष्टत्वेन मान्य नहीं लगते हैं!

मजेदार बात तो यह है: तथाभिनन्दित पु.सि.सं.शि.बालककी तरह स्वच्छन्द कविकल्पना करते हुए विमर्शकार भी पुष्टिमार्गीय भगवत्स्वरूपको देव ही न मानते होते, और अतएव भगवत्स्वरूपको उद्देश्य करके प्रदत्त सुवर्णादिको भी देवस्व न मानते होते तो कुछ बात भी बन जाती. उक्त अभिनन्दनपत्र प्रदान करनेके बाद भी तथा स्वयं विमर्शकारको ''इन दोनों उपायनोंमें ठाकुरजीका ही पूर्णस्वत्व होता है अतः उन्हें उपायनकर्ता (उपायनकर्ता ही केवल क्यों? यदि देवस्व होता है तो किसीको भी नहीं लेना चाहिये : गो. श्या.म.) पुनः प्रसादरूपमें ग्रहण नहीं करते. (वैसे हकीकत यह है कि आधुनिक पुष्टिमार्गीय हवेलिओंमें सन्मुख भेंटसे ही सारी मन्दिरव्यवस्था चलाई जा रही है) गुरुघरमें देवदर्शनार्थी वैष्णवोंद्वारा ठाकुरजीके समक्ष ऐसे द्रव्यके उपायन करनेपर गुरु भी उसे ग्रहण नहीं करते'' (विमर्श पृ. १८). इस स्वीकृतिसे फिर गुलांट भी खानी चाही है. वह यों कि ''यहां यह ध्यातव्य है कि ठाकुरजीको उपायनके रूपमें निवेदित वस्तु स्वार्पित होनेपर उसे ग्रहण करनेका प्रश्न ही नहीं आता. परार्पित उस द्रव्यको अर्चकके द्वारा ब्राह्मणको दिये जानेपर उसे ब्राह्मण ग्रहण कर ही सकता है'' (विमर्श पृ.१८). क्या खूब नीति अपनाई है!

एक ओर कहा जा रहा है कि देवका पूर्ण स्वत्व स्थापित होता है अतः उपायनकर्ता ले नहीं सकते और गुरुघरमें ठाकुरजीके समक्ष ऐसे द्रव्यके उपायनको गुरु भी ग्रहण नहीं करते. तब वहां सवाल पैदा होता है- क्यों नहीं करते? परार्पितका भी ग्रहण तो किया ही जा सकता है. फिर सोनेकी कटोरीकी वार्तामें श्रुत हेतु ''वह देवद्रव्य थी''का त्याग करके सर्वथा अश्रुत हेतु- ''तब प्रश्न आता है कि उस सामग्रीसे सम्पन्न महाप्रसादको श्रीमहाप्रभुजीने वैष्णवोंको क्यों नहीं दिया? आज हमने अपनी ओरसे श्रीठाकुरजीको आरोगाया नहीं. उत्तम शिष्य गुरुकी प्रसन्नतामें अपनी प्रसन्नताका तथा गुरुके दुःखमें अपने दुःखका अनुभव करते हैं. . . अतएव श्रीमहाप्रभुद्वारा उन्हें उस प्रसादको ग्रहण करानेका प्रसंग ही नहीं आता'' (विमर्श पृ.२१) -द्वारा सरकसी करतब जैसे समाधान देनेकी क्या आवश्यकता? कहीं ऐसा तो नहीं कि विमर्शकार सन्मुखभेंटमें ठाकुरजीका 'पूर्ण

स्वत्व' और असन्मुख(महेताखाना)भेंटमें 'अपूर्ण स्वत्व' ध्वनित करना चाह रहे हों ? यदि यह हकीकत हो तो पूर्णता और अपूर्णता की परिभाषा देनी चाहिये थी. अन्यथा देवके पूर्ण स्वत्व स्थापित होनेके बावजूद परार्पित द्रव्यको स्वयं उपयोगमें लाना या कीर्तनिया आदिको देनेका अधिकार मान लेना पुनः देवके अपूर्ण स्वत्वमें पर्यवसित होगा.

लगता है कि विमर्शकार अपनी मानसिक असमंजसताके कारण देवद्रव्यकी सुसमंजस व्याख्या करनेसे कतराना चाहते हैं. अतएव ''ब्राह्मण उसे ले सकता है''की भूमिगत सुरंगसे भाग जानेका उपाय घड़ रहे हैं. विमर्शकारद्वारा एतदर्थ उद्धृत वचनोंका विशोधन करना, अतएव, आवश्यक हो जाता है. यथा –

(क) ''देवे दत्वा च दानानि देवे दत्वा च दक्षिणा तत्सर्वं ब्राह्मणे दद्यात्.'' यह वचन तो सन्दर्भोल्लेखरहित होनेके कारण विमर्शकारका मनघड़ंत भी हो सकता है. अतः विचारणीय नहीं है.

(ख) ''तन्माल्यं चैव तद् द्रव्यं भक्तानां चैव दापयेत्'' (विष्वक्. संहि. २०।३५३). यह वचन उपायनीकृत पूजोपयुक्त द्रव्यके ही बारेमें है और पूजार्थ समर्पित द्रव्यके बारेमें नहीं – इसमें प्रमाण क्या ? यदि मात्र पूजोपयुक्त द्रव्यको उपायनीकृत द्रव्य ही माना जाता हो तब तो सन्मुख भेंटकी तरह सारी असन्मुख भेंट भी उपायनीकृत होनेसे ठाकुरजीके पूर्णस्वत्ववाली सिद्ध हो जायेगी, जिनके उपभोगसे देवलकता सिद्ध होगी.

(ग) ''त्यक्तं च विष्णुमुद्दिश्य तद्भक्तेभ्यो विशेषतः'' (पद्म. पुरा. पाता.खं. ८०।६५). यहां तो विमर्शकारने अकाण्डताण्डवकी पराकाष्ठा प्रदर्शित की है ! सम्पूर्ण वचन यों है : ''दत्वा नैवेद्यवस्त्रादि नाददीत कथञ्चन त्यक्तं च विष्णुमुद्दिश्य तद्भक्तेभ्यो विशेषतः.'' स्पष्ट है कि यह वचन स्वदत्त परदत्त नैवेद्यवस्त्रादिके पुनर्ग्रहणके निषेधार्थ ही प्रवृत्त हुआ है, न कि ग्रहणार्थ. अर्थात् विष्णुके भक्तकेलिये तो कमसे कम पुनर्ग्रहण कथमपि करना नहीं चाहिये. जो अग्राह्यताका प्रतिपादक वचन है उससे ग्राह्यताका झांसा देना अकाण्डताण्डव नहीं तो और क्या ?

(घ) ''देवे देयानि दानानि देवे देया च दक्षिणा तत्सर्वं ब्राह्मणे दद्यात्...'' (ब्रह्मवै. पुरा. श्रीकृष्णजन्म. १२२।२०). यह ''मुखादग्निश्च'' (पुरुषसूक्त)की तरह ''ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्'' (पुरुषसूक्त) कल्पका अवलम्बन कर अग्निकी तरह ब्राह्मणको भी 'देवमुख' माननेके सन्दर्भमें किया गया विधान है. जिसके चलते साक्षात् ठाकुरजीको भोग धरनेके बजाय ब्राह्मणको भोग लगाया जा सकता

है. परन्तु क्या पुष्टिमार्गमें ? विमर्शकार जवाब दें ! वैसे ही यहां भी जो दान या दक्षिणा है वह देवसम्प्रदानक या देवपूजानिमित्तक – यों इनमेंसे किस अर्थमें लेनी इसका विवेक रखना विमर्शकार भूल गये हैं. ऐसी स्थितिमें ''यद् यद् देवे देयं तद् तद् देवस्वमेव भवति'' व्याप्तिनियम स्वीकारते हों तो छप्पनभोग–पलना–गलभोगादि निमित्तवश दर्शनार्थी जनताद्वारा देय द्रव्यसामग्री भी देवस्व होगी. तब तो उसके अपहारसे पू.पा.गो.म.श्रीओंको देवस्वापहारी देवलक स्वीकारना ही पड़ेगा. अन्यथा देवपूजार्थ प्रदत्त दान देवस्वामिक होनेकी तरह पूजाकर्तृस्वामिक भी हो ही सकता है. अन्यथा पूजाकर्ताका दानकर्ममें भी कर्तृतया अधिकार सिद्ध ही नहीं होगा. अतः पूजाकर्ता अपने स्वामित्वकी जिन सामग्रीओंसे पूजा कर रहा है वह स्वयंके उपभोगमें न लाये और ब्राह्मणको दे दे – यही अर्थ यहां निकलता है. तो सिद्ध हुआ कि जो ब्राह्मणको देय दान एवं दक्षिणा है वह देवनिमित्तक पूजाकर्ताके स्वामित्वकी है.

(ङ) ''पूजोपयुक्तं यद् द्रव्यं हेमरत्नाद्यनुत्तमं तत्सर्वं गुरवे दद्यात्...'' (शिव. पुरा. उत्त.वा.सं. ३२।६९). पुनश्च पूजोपयुक्त सर्वविध द्रव्य देवद्रव्य ही होते हों ऐसा न होनेसे तथा दाताका संकल्प ही उसे देवद्रव्य बनाता होनेसे विमर्श भ्रान्तिपूर्ण है.

इन (घ–ङ) दोनों वचनोंके बारेमें यह और अवधेय है कि पूजित देवके विसर्जनके बाद स्वयं देवकी ही पूजास्थलपर सन्निधि रह नहीं जाती तो तत्स्वामित्वनिरूपित देवद्रव्य भी कहांसे रह जायेगा ? पुष्टिमार्गमें तो देवविसर्जनकी प्रक्रिया ही नहीं अतः देवार्थ याचित परद्रव्यसे देवस्वामित्व भी निवृत्त नहीं हो पायेगा. उदाहरणार्थ कुछ ब्राह्मणवृत्तियां प्राचीन कालमें किसी ब्राह्मणको आजीवन दी जाती थी तो कुछ वृत्तियां आनुवंशिक भी. आजीवन प्रदत्त वृत्ति सम्प्रदानीभूत ब्राह्मणके मरणके बाद उसके वंशजोंके स्वामित्वकी नहीं रहती थी; जैसे आज पॅन्शन. जबकि आनुवंशिक वृत्तियां सम्प्रदानीभूत व्यक्तिके मरणके बाद उसके वंशजोंको भी अनुप्रदेय हो जाती थी; जैसे एन्यूईटी. वंशके ही समाप्त होनेकी तो कथा और हो सकती है. जैसे श्रीनाथजीके रथके रुकनेपर सिंहाड़ गाम तत्कालीन गोस्वामी तिलकायित महाराजश्रीको जबतक श्रीनाथजी वहां बिराजते हैं तब तक निजस्वामिकतया उपभोगार्थ सशर्त भेंट किया गया था. घसियाड़ गाम जबकि श्रीनाथजीको भेंट किया गया होनेसे वहां रहकर श्रीनाथजीकी सेवा करनेपर

तत्कालीन बहुजीको वंशोच्छेदकी भीति हुई थी सो पुनः सिंहाड़ पधराये थे. यह ऐतिहासिक तथ्य है.

(च) ''रिक्तहस्तो न पश्येच्च राजानं देवतां...'' (मे. तं. १०।६५५). इस नियमको बन्धनकारी माननेपर स्वयं विमर्शकार अपने ठाकुरजीको प्रतिदिन भेंट धरते हैं या नहीं ? यदि नहीं तो वैष्णवसे यह अपेक्षा क्यों रखी जाती है; यदि देवद्रव्यलालसा न हो तो !

कितने शिथिल वाचनिक आधारपर कितने वज्रलेपायित दोषोंका निराकरण विमर्शकारने करना चाहा है – यह विस्मयजनक बात है !

वैसे देवस्व हो या देवद्रव्य, देवनैवेद्य हो या देवनिवेदित, किसी तरहके निर्धारण करनेकेलिये ''दाताद्वारा देवार्थ स्वत्वपरित्यागपूर्वक देवस्वत्वस्थापनानुकूल संकल्पका विषय होना ही'' देवद्रव्यका सामान्य लक्षण है. नैवेद्य जो इस तरहके द्रव्यसे धरा गया न हो तो देवार्थ विनियोगके बाद उसमेंसे देवस्वत्व निवृत्त हो जाता है. उपभोगजन्य स्वत्वनिवृत्तिके कारण वह भक्तके लिये उपभोगार्ह भी बन जाता है. परार्पित होनेपर अर्पणकर्ताकी अनुमति आवश्यक होती है (गुरुकी नहीं) यह सत्सिद्धान्तमार्तण्ड (प्रश्न ५।१७)के ''यत्र प्रतिमादौ बहवः स्वस्वसत्ताकवस्तुनिवेदकाः भवेयुः तत्र स्वयमर्पितमेव स्वेन उपभोक्तव्यं नतु निवेदकानभ्यनुज्ञातं परार्पितमपि'' (अर्थात् जहां बहुत सारे निवेदनकर्ताओंने अपने-अपने स्वत्ववाली वस्तुओंका प्रतिमादिको निवेदन किया हो वहां अपनेद्वारा निवेदित वस्तु ही स्वयं प्रसादत्वेन उपभोगार्ह होती है; परनिवेदित वस्तु पराई अनुमतिके बिना उपभोगार्ह हो नहीं सकती, परस्व होनेसे) वचनसे सिद्ध है.

सर्वप्रथम इस विवेकका पालन पुष्टिमार्गीय हवेलिओंमें आज कहां होता है ? दूसरे विमर्शकार कहते हैं – गुरुघरमें गुरुके ठाकुरजीको कुछ भी सन्मुख भेंट या असन्मुखभेंट-सामग्री पराये दर्शनार्थीओंद्वारा धरते ही गुरुका उसपर अपूर्ण या पूर्ण स्वत्व उत्पन्न हो जाता है, सो गुरु चाहे जो कर सकता है. जबकि दर्शनार्थी निवेदकोंकी अनुमतिकी कथा तो दूर, अनेक बार नाराजगी प्रकट होनेपर भी आधुनिक पू.पा.गो.म.श्री अपने कामकाज या शोख-शौकको पूरा करते हैं. निवेदक दर्शनार्थी कहते हैं – उनके निवेदितद्रव्यसे चलती हवेलिओंको शॉपिंग कॉम्प्लॅक्स नहीं बनाना चाहिये था. और पू.पा.गो.म.श्री कहते हैं – हमारी अनुपस्थितिमें मन्दिर पुनर्निर्माण समितिके सदस्योंने शॉपिंग कॉम्प्लॅक्स बना दिया है, हम क्या

करें ! जैसे शॉपिंग कॉम्प्लॅक्स कोई अल्लाउद्दीनके जादुई चिरागसे पलभरमें बन न गया हो !

मूलमें श्रीगट्टुलालाजीका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि देवालयमें अनेक निवेदकोंके द्वारा प्रदत्त या अर्पित नैवेद्यादि अर्पणीय पदार्थके बारेमें प्रत्येक निवेदकका भाव या संकल्प ही प्रमाण होता है. अर्थात् नैवेद्य उसने स्वसत्ता निवृत्त करके भगवन्मूर्तिको निवेदित किया है या स्वसत्ता रखते हुए. अतः उसकी अनुमतिके बिना लेनेसे देवस्वापहार या परस्वापहार का महद्विगर्ह्य पातकदोष लग सकता है. इसे विमर्शकार महद्विमृग्य उद्धारकभक्तिके प्रकारमें खपाना चाहतें हो तो वह कथा शास्त्रमूलक नहीं परन्तु स्वार्थमूलक है.

(ई) सम्प्रदानीभूत देवका स्वरूप

सम्प्रदानीभूत देवस्वरूपके विषयमें यह अवधेय है: तान्त्रिक देवार्चन, क्योंकि (१) मानसपूजन (२) होमात्मक पूजन (३) बेर = प्रतिमापूजन (४) मण्डलाद्यर्चन – यों अनेक प्रकारोंसे सम्पन्न किया जा सकता है, अतः पूजनप्रकारके स्वरूपानुरोधवश देवस्वरूप भिन्न भिन्न प्रकारके होते हैं. फलरूपेण तत्पूजनार्थ प्रयुक्त द्रव्य-सामग्री तथा पूजावशिष्ट नैवेद्य भी अनेक प्रकारके हो सकते हैं. यथा –

(१) मानसपूजनमें पूज्य देवकी प्रतिमाकी तरह पूजांगद्रव्य भी मानस ही होंगें. अतः देवद्रव्य बनता ही नहीं; और बनेगा भी तो मानसद्रव्य ही, बाह्यवस्तुरूप द्रव्य नहीं.

(२) होमात्मक पूजनमें पूजनीय देव क्योंकि मन्त्रमय होता है, जिसे देय हविद्रव्यकी आहुति मन्त्रोच्चारपूर्वक देवमुखतया मान्य अग्निकुंडस्थित मन्त्राहित अग्निमें देनी होती है, अतः देवार्थ उत्सृष्ट आहुति तो स्वयं भस्म ही हो जाती होनेसे देवद्रव्यके अन्यके द्वारा उपभोगकी कथा ही अप्रासंगिक बन जाती है. देवार्थ उत्सृष्ट द्रव्यप्रदानके बाद यज्ञोच्छिष्ट द्रव्य यद्यपि देवद्रव्य नहीं होता, फिर भी उसे ग्रहण करनेका अधिकार द्विजाद्विज सभीका नहीं होता. अतः यथाविधि यज्ञोच्छिष्ट या होमोच्छिष्ट प्रसादका वितरण धर्म्य माना जाता है. यह अधिकारीविशेषकेलिये विहिततया ग्राह्यता तथा अधिकारीविशेषकेलिये निषिद्धतया अग्राह्यता उसके देवस्व होनेका प्रमाण नहीं होती.

(३) प्रतिमापूजनमें: आवाहन-पूजन-विसर्जनकी प्रक्रियाद्वारा जब पूजनीय देवका विसर्जन हो जाता है तब पूजास्थल या पूजनानुष्ठान में स्वयं देवके ही

विसर्जित हो जानेके कारण तद्देवनिरूपित स्वामित्व पूजांगभूत द्रव्य-सामग्रीपर रह ही नहीं जाता. ऐसी स्थितिमें देवद्रव्य कैसे उत्पन्न हो सकता है ? और यदि कुछ उत्पन्न हुआ भी तो वह देवविसर्जनके साथ ही विसर्जित भी हो ही जाता है - ऐसे स्वीकारना पड़ेगा. प्रतिमामेंसे देवत्व यदि विसर्जित नहीं किया गया हो तो, वह पूजाकर्ताके निजगृहमें स्थित हो या परार्थ देवालयमें, उस प्रतिमाके पूजनार्थ समर्पित स्रग्गन्धवस्त्रालंकारस्वर्णरजतनैवेद्यादिका भक्त उपभोग कर सकते हैं. यदि स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक प्रतिमास्वत्वस्थापनानुकूल संकल्प किया गया हो तो स्वयं या अन्य भी कोई उसका उपभोग कर नहीं सकते, दत्तापहारदोषका उत्पादक होनेसे. यही नियम ''यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत . . . भूयसि तत्फलम्'' (भाग. ११।२७।५४-५५) तथा ''देवस्वं च विरुद्धं यत् . . . स्वदत्तं परदत्तं वा यत्नात् तत् परिवर्जयेत्'' (श्रीपौष्क.संहि.) वचनोंमें प्रतिपादित हुआ है.

''देवे देयानि . . . ब्राह्मणे दद्याद्'' - ''तन्माल्यं चैव तद्द्रव्यं भक्तानां चैव दापयेत्'' - ''पूजोपयुक्तं यद्द्रव्यं तत्सर्वं गुरवे दद्याद्'' वचनोंमेंसे तीनों ही विधिओंमें 'दद्याद्' और 'दापयेत्' द्वारा सूचित दानविधि या दापनविधि में देय सामग्रीका स्वामी ही दानकर्ममें अधिकारी है, गुरु नहीं. इससे सिद्ध होता है - इन वचनोंद्वारा भी यजमानका ही स्वत्व इन वचनोंमें विवक्षित है,ब्राह्मण गुरु या देवमूर्ति का स्वत्व नहीं. यथा पाणिग्रहणविधिमें कन्याका पिता ही कन्यादानार्थ अधिकारी होता है, वर या पुरोहित नहीं. दानविधिद्वारा स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोत्पादनानुकूल संकल्पवशात् पाणिग्रहणार्थ वर ही अधिकारी होता है, अन्य कोई पुरोहित या वरके पिता आदि नहीं. अतः विधिनिर्दिष्ट स्वत्वानुमित देवद्रव्यता इन वचनोंसे निवृत्त हो गई. इसी तरह क्रमशः ब्राह्मण भक्त तथा गुरुकी स्वत्वोत्पत्तिके अनुकूल संकल्प करनेकी ही ये विधियां स्वयं इस बातका प्रमाण है कि इन पूजांगभूत द्रव्योंके बारेमें यजमानको देवतोद्देश्यक स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक देवस्वत्वोत्पत्तिका संकल्प ही नहीं करना है. अतः स्वप्रदत्त देवद्रव्यके स्वपरोपभोगके निषेधवचनोंका विमर्शकाराभिमत अन्यथानयन इन वचनोंकी दुहाई देकर शक्य ही नहीं है.

तिसपर भी ''तन्माल्यं चैव तद्द्रव्यं भक्तानां चैव दापयेद्'' वचनमें 'एव'कारसे व्यावृत्त्य कौन-कौन हैं यह भी जान लेना एक मज़ेदार बात होगी. क्योंकि ''भक्तोंको ही दिलवाना चाहिये'' कहनेपर ''अन्योंको नहीं'' यह अर्थ निकलता है. और वे अन्य कौन हैं इसका निरूपण इसी प्रसंगमें यों मिलता है -

मूल: काकश्वानादिजन्तूनां पाषण्डिनां तथैव च।
वेदविक्रयकानां च वेदनिन्दकमेव च।।
शूद्रान्नतत्पराणां च नास्तिकानां विशेषतः।
एवमादीनिजातीनां भक्षणार्थं न दापयेत्।।
(वहीं ३५४-३५५).

अनुवाद: कौआ कुत्ता आदि जन्तुओंको पाषण्डी (द्र. ''लाभपूजार्थयत्नस्योपधर्मत्व . . सम्पादकत्वात्'') वेदविक्रय करनेवाले, वेदनिन्दकों, शूद्रान्नतत्पर (जैसे बहुधा हम गोस्वामी अपनी हवेलिओंके भण्डारोंमें अद्विजोंसे घी-तैल-दाल-आटा-चावल-गुड़-चीनी स्वीकार लेते हैं) नास्तिकों या ऐसे जातिवालोंको भक्षणार्थ नहीं देना चाहिये.

ऐसी स्थितिमें भक्तोंको प्रसाद दिलवा देनेकी तान्त्रिक आज्ञाका लाभ हम गोस्वामिओंको मिल सकता हो ऐसा लगता नहीं है.

आगे चलकर ३५८-३६०वी कारिकाओंमें कैसे भक्तोंको देना उसके अन्तर्गत भी त्रैवर्णिक द्विजातिओंको ही दिलवानेकी आज्ञा है. तो हमारे मन्दिरोंमें क्या वह नियम पाला जाता है, जब हम प्रसादका विक्रय या समाधान करते हैं ? जबकि वहां स्पष्ट ये शब्द आये हैं: ''तस्मात् सर्वप्रयत्नेन वर्जितानां न दापयेत्'' (वहीं ३६०). अर्थात् किसी भी तरह वर्जितोंको नैवेद्य मिल न जाये उसकी अत्यन्त सावधानी रखनेको कहा गया है. वर्जितोंमें हम नहीं है यह तो हम कह ही नहीं पायेंगें. इस तरह विमर्शकारद्वारा प्रदत्त वचन विमर्शकारके मतका कैसे निरसन कर रहा है - यह चमत्कार हमने देखा !

इस प्रसंगमें यह भी देख लेना अनुचित नहीं होगा कि तन्त्रशास्त्रने इस विषयकी सम्पूर्ण व्यवस्था क्या-कैसी निरूपित की है.

नारदीयसंहितामें यह निरूपण मिलता है कि अर्चनार्थ सम्पादित हविमेंसे एक (क)भाग अर्चा = मुख्यप्रतिमाको निवेदित करना चाहिये तथा उस नैवेद्यमेंसे एक चतुर्थांश निवेदित प्रसाद विश्वक्सेनको भोग लगाना चाहिये. तीन चतुर्थांश गुरु दीक्षित यति तथा द्विज वैष्णवोंकेलिये (यह नियम पुष्टिमार्गमें पाला नहीं जाता तो भक्तोंको देनेके नियमका लाभ हम पुष्टिमार्गीओंको कैसे मिल पायेगा ?) रखना चाहिये. द्वितीय (ख)भागसे होम करना चाहिये. जिस होमकी आहुतिओंका अवशिष्ट अंश द्विजशिष्योंको देना चाहिये. (यह होमप्रणाली हमारे यहां है ही

नहीं) तृतीय (ग)भाग प्रथमावरण देवताओंको भोग लगाना चाहिये. चतुर्थ (घ)भाग यजमानके जो दीक्षित बन्धु-बान्धव हों उनके साथ यजमान स्वयं ग्रहण कर सकता है. (हमारे मन्दिरोंमें दीक्षितोंको ही प्रसाद मिले इसकी भी सावधानी कहां रखी जाती है?. द्र. नार.संहि. १२।५३-५७).

न केवल इतना अपितु हविःशेषसे ही शरीरयात्रा अनिवार्य बताई गई है. जो जिस मूर्तिकी अर्चना करता है उसे उस मूर्तिके हविःशेषका ही भोजन करना चाहिये. क्योंकि दूसरे किसी व्यक्तिका अन्न खानेपर पूजाफल पूजाकर्ताके बजाय पूजाकर्ताने जिस व्यक्तिका अन्न खाया हो उसे मिल जाता है (नार.संहि. ११।९१-९३).

जो नैवेद्य सामग्री सिद्ध की जाती है उसमेंसे तीनचतुर्थांश देवार्थ होता है, जो पूजनकर्ता यजमानको नहीं मिलता. केवल एकचतुर्थांश अनिवेदित हविःशेष ही यजमान और उसके बन्धु-बान्धव ग्रहण कर सकते हैं. ऐसी स्थितिमें मुखिया-भीतरिया आदिको हम अर्चक मानतें हों तो उन्हें ठाकुरजीके सन्मुख भोग धरी हुई सामग्री दे देनी चाहिये. सेवाके यजमान हम गोस्वामिओंको भोग न धरी हुई अवशिष्ट सामग्री ही ग्रहण करनी चाहिये. यदि हम गोस्वामी अपनेआपको पुजारी मानते हों और वैष्णव दर्शनार्थीओंको यजमान, तो कमसे कम उन्हें तो सन्मुख भोग धरी हुई सामग्री देनी नहीं चाहिये. इसके साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पांचरात्रागमिक अर्चकको जहां अर्चनासे पूर्व या पश्चात् परान्नभोजन निषिद्ध हो वहां सेव्यसन्तोषजनिका सेवाका बहाना बनाकर नेगभोगके मिथ्या नियमोंका आडम्बर करके द्विजाद्विज स्वमार्गीय-परमार्गीय सभी दर्शनार्थी जनताके द्रव्यसे लड्डु-पूड़ी-ठड़ीका चक्कर चलाना शास्त्रीय नहीं अपितु घोर निन्दनीय कृत्य ही ठहरता है.

यदि पूजोपयुक्त द्रव्योंको इन वचनोंके आधारपर लेना हो तो इन वचनोंमें बंधना पड़ेगा. यदि बंधना न हो तो इन वचनोंसे मिलते लाभके भी अधिकारी हम नहीं रह जायेंगें. और न हमारी सेवाप्रणाली ही और न हमारे अद्विज शिष्य ही.

(४) मण्डलाद्यर्चनमें पूजनीय देवताके पूजनके बाद विसर्जन हो जानेसे तन्निरूपित देवस्वत्व पूजोपयुक्त द्रव्योंमें आता ही नहीं है, जो कि पूजासे पहले हो सकता था.

पूजनीय देवताके स्वरूपविचारके प्रसंगमें अतः स्वार्थप्रतिष्ठा अथवा परार्थप्रतिष्ठा, तथा ऐसे देवका स्वतः अर्चन अथवा परतः आचार्य, गुरु, ऋत्विक्

द्वारा अर्चनके भेदोपभेदोंको सरलतासे बुद्धिगत करनेकेलिये इस सारणीपर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा:

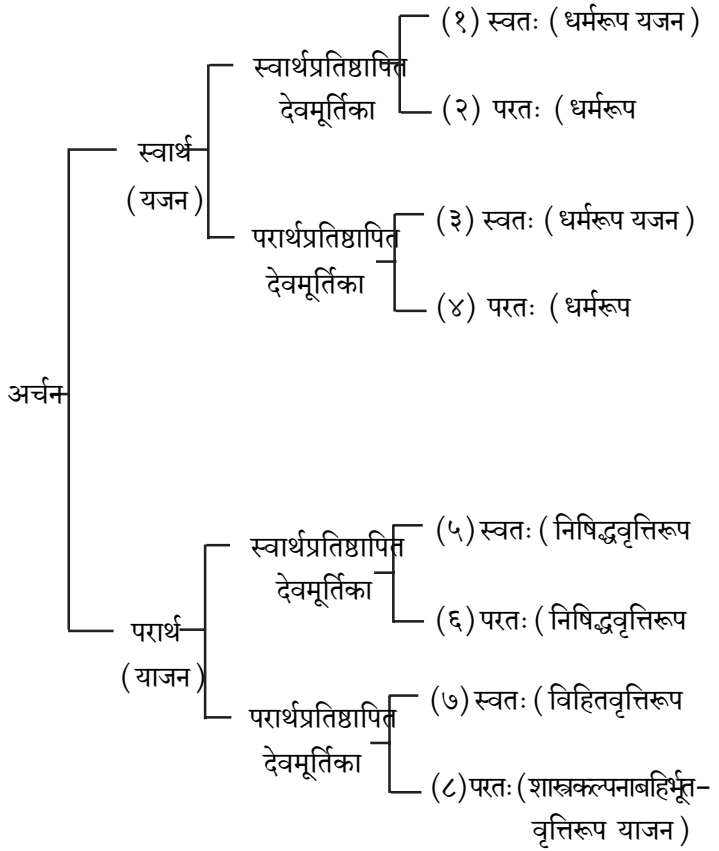

(१) इसमें इस प्रथम कल्पमें भगवदर्चनविधिका जानकार अर्चक स्वगृहमें स्वार्थप्रतिष्ठापित देवप्रतिमाका पूजन स्वार्थ, अर्थात् स्वधर्मतया ही, करता है.

(२) इस कल्पमें यजमान भक्तिमान होनेपर भी भजनविधिका या तो विज्ञ नहीं अथवा रोगादि उपद्रववशात् असमर्थ हो जानेसे स्वतः पूजन करनेमें समर्थ रह नहीं गया हो ऐसा है. अतः उसे परतः पूजन करवाना पड़ता है. एतदर्थ आचार्य गुरु या ऋत्विक् ब्राह्मणका वह वरण करके तदर्थ उन्हें दक्षिणादि प्रदान करता है. विष्वक्सेनसंहितामें अतएव कहा गया हैं: "कुञ्जरं वा तुरंगं वा ग्रामं दासीगणः तथा गाश्चैव विविधं वस्त्रं हिरण्यं वापि शक्तितः आचार्याणां तु देयं स्यात् यथावित्तानुसारतः (विष्वक्.संहि. २२।१९१-१९२). इसी तरह विमर्शकारद्वारा

उद्धृत वचन ''वृत्तिं कृत्वा तु विप्रेण दीक्षितेन विधानतः अन्येन पूजयेद् देवमशक्तः स्वयमर्चने'' (विमर्श पृ.४७) भी अवधेय है. इसी कल्पके सन्दर्भमें यत्र-तत्र तन्त्रशास्त्रमें कहीं वृत्त्यर्थ अर्चनतया तो कहीं याजनतया इसे ब्राह्मणकी वृत्तिके रूपमें मान्य किया है. जो ब्राह्मण आर्त्विज्य या अर्चनविधिमें आचार्यत्व करता है, वह अपना स्वधर्मरूप भगवदर्चन वृत्त्यर्थ नहीं करता, जैसाकि हम गोस्वामी करते हैं, क्योंकि वह तो कल्पनातीत अधःपात है. यह तो याजन है, अर्थात् वृत्त्यर्थ भगवदर्चन करवाना न तो स्वधर्मरूप यजनका विकल्प है और न अनुकल्प ही, प्रत्युत स्वधर्म भलीभांति निभ पाये एतदर्थ शास्त्रद्वारा नियत ब्राह्मणकी नित्यवृत्ति है.

(३) इस कल्पमें परार्थ प्रतिष्ठापित प्रतिमाकी पूजाका प्रकार है. जैसे जगदीश पंढरपुर श्रीरंग तिरुपति वरदराज बदरीनाथ द्वारकाधीश रणछोड़रायजी आदि परार्थ देवालयोंमें; महाप्रभुके ही शब्दमें, ''जगन्नाथे विठ्ठले च श्रीरंगे वेंकटे तथा यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः'' (त.दी.नि. सर्वनि. २५५), पूजन किया जा सकता है. इसी शास्त्रीय कल्पको लक्ष्यमें रखकर पूर्णमल्ल क्षत्रियको देवालयनिर्माण तथा श्रीनाथजीके श्रीअंगपर चंदन धरानेकी अनुज्ञा श्रीमहाप्रभुने दे दी थी.

(४) इस कल्पमें पूर्वोक्त परार्थप्रतिष्ठापित देवालयोंमें वहां नियुक्त अर्चकोंद्वारा स्वार्थपूजन करवानेका प्रकार है, इन अर्चकोंको दक्षिणादानपूर्वक. यह शास्त्रानुमोदित होनेपर भी मर्यादामार्गीय प्रकार है. पुष्टिमार्गीय था नहीं परन्तु अब अर्थलोलुपतावश हमने अपना तो रखा है!

(५) स्वार्थप्रतिष्ठापित देवप्रतिमाका परार्थपूजन, सो भी आजीविकाके उपार्जनार्थ! शान्तं पापं!! यही तो वह दुष्कर्म है जिसकी उपमा प्रभुचरणने मलप्रक्षालनार्थ गंगाजलके उपयोगसे दी है!!! विमर्शकारने ''देवार्चनपरो नित्यं वित्तार्थी वत्सरत्रयम् असौ देवलको नाम देवस्वग्राहकोपि च'' जो वचन उद्धृत किया है वह इसी कल्पपर पूर्णतया लागू होता है.

विमर्शकारने ''लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्व-देवलकत्वादिसम्पादकत्वात्'' वचनको पूर्वपक्षांगतया उद्धृत करके उसके समाधानतया ''उपधर्मस्तु पाषण्डो दम्भो वा''-''वेदविरुद्धत्वं पाषण्डत्वं'' वचनोंका अवलम्बन लेकर सेवाके दम्भको ही केवल दोषरूप मानकर कुशकाशावलम्बन करना चाहा है. वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाकी, परन्तु, प्रभुचरणद्वारा की गई कठोरतम शब्दोंमें निन्दाके बावजूद

वृत्त्यर्थसेवाकी वकालत करना भी एक गर्ह्यतम दम्भ कहा जा सकता है कि नहीं -यह प्रत्येक निष्ठाशील पुष्टिमार्गीयकेलिये विचारणीय विषय है ही!

इसी तरह देवलकताके स्वरूपका विचार करते हुए विमर्शकारने तीन भेद (पृ. ३९-४७ पर) बताये हैं: (१) कर्मदेवलक (२) कल्पदेवलक तथा (३) शुद्धदेवलक. इनमें ''आगमोक्तविधानज्ञो रुद्रकाल्युपजीवकः शुद्धदेवलको नाम सर्वकर्मविगर्हितः'' (विमर्श पृ.४२). इस वचनको इस बातका प्रमाण माना कि रुद्रपूजक या कालीपूजक ही केवल देवलक होते हैं. वस्तुतः ऐसा नहीं है. क्योंकि तब कर्मदेवलक और कल्पदेवलक से शुद्धदेवलकका भेद ही सिद्ध नहीं होगा. क्योंकि देवलक केवल रुद्र-कालीके पूजक ही ठहरेंगे.

ऐसी स्थितिमें ''देवार्चनपरो नित्यं वित्तार्थी वत्सरत्रयम् असौ देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः'' जैसे सामान्य वचन भी वृत्त्यर्थ विष्णुपूजा करनेवालोंके बारेमें न होकर वृत्त्यर्थ रुद्र-कालीपूजन करनेवालोंके ही बारेमें ठहरेंगे. अतः यह निर्णय विमर्शकारने कैसे ले लिया यह समझमें नहीं आता! क्योंकि सामान्य वचन देवलकोंके तीनों प्रकारोंका संग्राहक होना चाहिये था- केवल शुद्धदेवलकोंका नहीं.

अतएव ''शर्वं सूर्यं तथा चन्द्रं दुर्गादी रौद्रदेवता योऽर्चयेत् पणपूर्वं तु स वै देवलको स्मृतः'' (विमर्श पृ.३९) वचन भी इस बातका प्रमाण है कि केवल रुद्र-कालीपूजनको आजीविका बनानेवाले ही नहीं प्रत्युत सूर्य-चन्द्रके पूजनको आजीविका बनानेवाले भी देवलक ही होते हैं. उल्लेखनीय है कि गोस्वामिओंके यहां विवाहमें ग्रहशान्तिकर्ममें चन्द्रसूर्यादिग्रहोंका पूजन गोस्वामिवर्गके उपाध्यायजी करवातें ही हैं, जिसकी दक्षिणा भी लेते ही हैं, पणपूर्वक. एतावता वे यदि देवलक हो जाते होते, अर्थात् हव्य-कव्यमें बहिष्कारार्ह हो जाते होते, तो उन्हें उपाध्याय बनाया ही क्यों जाता?

स्पष्ट है कि इन देवोंका स्वधर्मरूप यजन या पूजन उपाध्यायजीकी आजीविका नहीं है. परन्तु ब्राह्मणवृत्तिरूप याजन उपाध्यायजीकी आजीविका है, जो शास्त्रानुमोदित ही है. इसी तरह रुद्र-काली-गणपति-कार्तिकेयादि देवताओंके भी पूजनकर्ता उनका स्वधर्मतया पूजन करते हों एतावता देवलक नहीं बन जाते. न किसी दूसरे शिवादि देवताओंके भक्तोंको शास्त्रविहित ब्राह्मणवृत्तितया याजन करवानेमात्रसे ही उनमें देवलकता आती है. गोस्वामिओंके विवाहकर्ममें रुद्रको भी आहुति उपाध्यायजी दिलवाते ही हैं; एतावता वे देवलक नहीं बन जाते. देवलकता आती

है गोस्वामिओंकी तरह स्वधर्मको आजीविकाका उपाय बनानेपर. क्योंकि इसे ही 'देवपूजनका दम्भ' कहा जाता है.

इससे सिद्ध होता है कि ''चण्डिकायाश्च दुर्गाया ज्येष्ठाया भैरवस्य च रुद्रस्य पूजकाः ये तु ते वै देवलकाः स्मृताः'' (विमर्श पृ.३९) वचनसे भी न तो चण्डिकादि देवताओंके पूजनको स्वधर्मरूप यजनतया करनेवालोंमें और न ब्राह्मणवृत्तिरूप याजन करनेवालोंमें ही देवलकत्व दोष आता है. देवलकत्वदोष आता है चण्डिकादि देवताओंके स्वस्वधर्मरूप पूजनको आजीविकार्थ उपाय बनानेवाले दम्भिओंमें ही.

अतएव ''येन केन प्रकारेण विष्णोराराधनं परं तस्माद् देवलकत्वं तु न विष्णुविषये क्वचित्'' (विमर्श पृ.३९) वचनमें ''येन केन प्रकारेण''की छूटमें दम्भ या पाषण्ड की छूट दी गई हो – ऐसा तो माना नहीं जा सकता. अतः ''येन केन प्रकारेण''का अर्थ– स्वधर्मतया यजन अथवा स्ववृत्तितया याजन ही लेना चाहिये. अर्थात् यजनको याजन बनाना अथवा याजनमें यजनका सन्तोष मानना ही दम्भ है! इस वचनमें यजनकी विष्णुसमाराधनरूपता तो निर्विवाद है परन्तु याजनको भी जो विष्णुकी आराधनाका दरज्जा दिया जा रहा है वह ''स्व(वर्णाश्रम)कर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'' न्यायसे समझना चाहिये. अन्यथा वह दम्भपर्यवसायी होगा ही.

यहां यह शंका उठ सकती है कि स्वयं शास्त्रतः ही जब यजन स्वधर्मतया तथा याजन स्ववृत्तितया विहित ही है तब कौन ऐसा मूर्ख होगा जो याजनके देवलकत्वापादक होनेकी शंका कर सकता हो! ऐसी स्थितिमें ''तस्माद् देवलकत्वं तु न विष्णुविषये क्वचित्'' वचन अप्रसक्त प्रतिषेध हो जायेगा!

यहां, परन्तु, धैर्ययुक्त चित्तसे विचारणीय यही है कि कोई वैष्णव स्वधर्मरूप यजन = विष्णुपूजनमें केवल तत्पर हो अथवा कोई वृत्तिकर्शित प्रतिमाके बाह्यपूजनमें असमर्थ हो (त्यागी–संन्यासी–वानप्रस्थ–वैखानस या अकिंचन होनेके कारण) ऐसा भक्त यदि शास्त्रविहित आजीविकारूप याजन = परार्थ विष्णुपूजनमें ही तत्पर हो एतावता उसे विष्णुपूजनका दम्भ करनेवाला नहीं कहा जा सकता है. क्योंकि ऐसे अकिंचन भक्त स्वधर्मरूप यजन = विष्णुपूजनके मानसप्रकारका अवलम्बन भी कर सकते हैं, तथा आजीविकार्थ शास्त्रविहित याजन = परार्थ विष्णुपूजन भी कर ही सकते हैं. अतः इस तरह प्रसक्त दम्भकी आशंकाका निरसन यहां किया गया है. हम गोस्वामिओंकी तरह परन्तु सेव्यसन्तोषजनक भजनका बहाना बनाकर

स्वधर्मरूप भगवद्भजनको आजीविकाका उपाय बनाना अवश्य ही दम्भ है. मंगला–पलना–राजभोग–फूलमण्डली–हिंडोला–कुंडवारा–छप्पनभोगके सार्वजनिक विज्ञापन छाप छापकर वित्तजासेवाकी सार्वजनिक याचना करना निश्चय ही पूर्ण पाषण्डिता है; ऐसा पाषण्ड जो ''अर्थार्थी कालनिर्देशी यो देवं पूजयेत् सदा कर्मदेवलको नाम सर्वकर्मबहिष्कृतः'' (विमर्श.पृ.४१) वचनके विषयीभूत कर्मदेवलक हमें सिद्ध करता है. आश्चर्य यह है– विमर्शकारने यहां स्वप्रदत्त वचनका भी तात्पर्यावगाहन समुचिततया किया नहीं है!

श्रीयामुनेयाचार्यजीके द्वारा उद्धृत शाण्डिल्यवचन ''वृत्त्यर्थं याजिनः सर्वे दीक्षाहीनाश्च केवलं कर्मदेवलका एते स्मृता ह्यत्र पुरा मुने तांश्च संवत्सरादूर्ध्वं न स्पृशेत् न च संविशेत्''का विचार करते हुए विमर्शकारने यहां 'कर्मदेवलक'की परिभाषामें: 'श्रद्धाभक्तिविरहितकेवलवृत्त्यर्थ' विशेषण 'देवपूजन'के साथ जोड़कर बच निकलनेका प्रयास किया है. परन्तु 'केवल वृत्त्यर्थ' तथा 'श्रद्धाभक्तिसहितवृत्त्यर्थ' ऐसे दो तरहके वृत्त्यर्थ पूजन यहां यामुनेयाचार्यको विवक्षित हों – ऐसा लगता नहीं है. क्योंकि श्रीप्रश्नसंहितामें ''परार्थयजनं दीक्षाम् आचार्यपदपूर्विकां'' (श्रीप्रश्न. संहि. १६।१४७) (अर्थात् परार्थयजन = याजनके अधिकारी आचार्यतया दीक्षित व्यक्ति ही हो सकते हैं, सभी नहीं) – यह नियम स्थापित किया है.

उस आचार्यकेलिये स्पष्टतम शब्दोंमें यह विधान भी किया गया है कि वह शिष्यको समयी–पुत्रक–साधककी कक्षाओंके क्रमसे आगे बढ़ाते हुए आचार्यपदवीतक ले जा सकता है. इसी तरह आचार्यत्वमें भी श्रोत्रिय, पूर्ण, गुरु, भट्टारक और भट्टाचार्यके क्रमसे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट पदवियां हैं. कहीं–कहीं समयी दीक्षित चक्रवर्ती अभिषिक्त आचार्य भगवान पदवियां भी वर्णित हुई हैं. तदनुसार समयी और पुत्रक की कक्षाओंतक पहुंचनेवाले साधकको याजन = परार्थयजनका अधिकारी नहीं माना गया है: ''न चास्य विहितो होमो धर्मार्थं पूजनं विना'' (जया.संहि. १७।१४), अर्थात् धर्मार्थपूजनके अलावा वह होम भी नहीं कर सकता है.

इसके बाद क्रमशः आगे बढ़नेपर शास्त्राज्ञा है–''मन्त्रसिद्धिस्तु वै तस्य विज्ञाता गुरुणा यदा, गुरुणा वै सोभिषेच्यः ततः शिष्यः प्रसादतः कृत्वा यागं चतुर्थं तु तद्वित्तेन पूर्ववत् . . . ततोभिषिच्य विधिना स्वाधिकारं निवेदयेत्. गृहीत्वा तेन कर्तव्यं गुरुत्वमितरेषु च, पूजाग्निहवने चैव जपध्यानान्वितं सदा,

भक्तानां संशयच्छेदं कुर्याच्छास्त्रं विना तु वै, अनुग्रहं च शापं च मन्त्रारम्भणमर्पणं, न लोभेन न रागेण न स्वार्थेन न नामतः, स्वकल्पोक्तविधानेन कुर्यात् सर्वेष्वनुग्रहमर्थ्यार्थितस्तदा विप्रः यजनं च पवित्रकम्, नातीव संग्रहं कुर्यात् मात्रा वित्तस्य नारद, नित्यमभ्यस्यति त्यागमनित्यं भावयेद् भवम्'' (जया. संहि. १७।४७-६२). अर्थात् जब समयी पुत्रक और साधक क्रमसे शिष्यको मन्त्रसिद्धि हो गई है ऐसा गुरुको लगने लगे तब उसे 'आचार्य'पदके लिये दीक्षित करना चाहिये. एतदर्थ शिष्यके वित्तसे उसे चतुर्थयाग करवाकर आचार्य अपने आचार्यत्वके अधिकारसे शिष्यको अभिषिक्त करें. तब वह शिष्य भी इतरोंको जपध्यानान्वित पूजा अग्निहोम करवा सकता है. शास्त्रोपदेश किये बिना अशिष्य भक्तोंके संशयोंका निरसन भी कर सकता है. आचार्योचित अनुग्रहशापादिदान भी कर सकता है. परन्तु यह सारे कृत्य उसे लोभ-राग-ख्याति-स्वार्थकी वृत्तिसे रहित होकर स्वकल्पोक्तविधिसे ही करने चाहिये. किसीके प्रार्थना करनेपर इन आचार्यकर्तव्योंका अनुग्रहपूर्वक पालन करना चाहिये (अर्थात् मासिकपत्रोंमें छप्पनभोगका विज्ञापन प्रकाशित करवा कर नहीं). अतीव संग्रह कभी करना नहीं चाहिये प्रत्युत त्यागका ही अभ्यास करना चाहिये, जीवनकी अनित्यताकी भावना करते हुए.

इससे सिद्ध होता है कि 'केवल'का अर्थ केवल श्रद्धाभक्तिरहित होना नहीं है. आचार्यपदपर दीक्षित न होनेपर भी याजन = परार्थयजन कराना केवल वृत्त्यर्थ ही होता है, स्वकर्तव्यपालनार्थ नहीं. इसकी निन्दा यहां की गई है.

ऐसी अवस्थामें पांचरात्रकी आचार्यपददायिनी दीक्षा हम गोस्वामिओंको होती नहीं. फिर भी मासिकपत्रों तथा पॅम्फ्लॅटॉ में सार्वजनिक वित्तजसेवायाचनाके विज्ञापनोंके कारण हमारा अर्थार्थितया कालनिर्देशी होना तो सिद्ध होता ही है. यदि गोस्वामिवर्ग वृत्त्यर्थ भगवत्सेवा न करता होता, विमर्शग्रन्थके प्रकाशनकी भी आवश्यकता ही न पड़ती. अतः वृत्त्यर्थिता भी सिद्ध होती ही है. अतः ''आचार्यदीक्षाविहीनत्वे सति वृत्त्यर्थित्वे सति देवपूजकत्वम्'' कर्मदेवलकका लक्षण हम गोस्वामिओंपर मूसलधार बरसकर देवलकताके गर्तमें हमें डुबो रहा है - यह भी सिद्ध हो ही जाता है!

रही बात कल्पदेवलकताकी, तो अन्य अपठित गोस्वामी तो कथञ्चित् बच भी सकते हैं कि श्रीमहाप्रभुके ही सारे ग्रन्थ वे जब पढ़ नहीं पाये तो पांचरात्रतन्त्रका अध्ययन करके पांचरात्रविधानज्ञ तो कहांसे हो पायेंगें! परन्तु

विमर्शकारसदृश सुपठित तथा तन्त्रवचनोंके आधारपर चर्चा करनेमें समर्थको तो पांचरात्रविधानज्ञ स्वीकारना ही पड़ेगा. वृत्त्यर्थिता भी 'विमर्श'ग्रन्थप्रकाशनसे सिद्ध होती ही है. सार्वजनिक विज्ञापनोंके कारण मासिक पत्र-पॅम्फ्लॅट द्वारा यशोर्थिता भी यदि सिद्ध न भी होती हो तो भी सम्भावित तो है ही. ऐसी स्थितिमें ''पांचरात्रविधानज्ञत्वे सति चतुर्वेदाधिकारित्वे सति तान्त्रिकदीक्षाविरहितत्वे सति वृत्त्यर्थित्वे सति यशोर्थित्वे वा सति भगवदाराधकत्वम्'' लक्षण भी देवलकतादोषक्लिन्न हमें करता है या नहीं - यह विचारणीय है!

यदि कहा जाये कि कल्पदेवलकके लक्षणमें जो प्रमुख घटक है, पांचरात्रविधानानुसार पूजन करना = ''ये कल्पोक्तं प्रकुर्वन्ति'', वह छूट गया है, जबकि पुष्टिमार्गमें तो वह है नहीं. तब तो घट्टकुट्टीमें प्रभात हो गया! क्योंकि वृत्त्यर्थ पूजन भी फिर उन्हींकेलिये दोषावह नहीं होगा, पुष्टिमार्गिओंके लिये तो होगा ही. कमसे कम पांचरात्रतन्त्रवचनोंके आधारपर तो यही सिद्ध होगा.

शुद्धदेवलक वैसे रुद्र-कालीपूजनकर्ताओंको माना गया है; और पुष्टिमार्गीय पू.पा.गो.म.श्री रुद्र-कालीका पूजन वृत्त्यर्थ नहीं करते (उज्जयिनीमें महाकालका पूजन धर्मार्थतया तथा कभी-कभी निजगृहमें भी फोकटरंजनोंके पौरोहित्यसे चण्डीयाग करवाते हैं. ऐसी कथा कर्णोपकर्ण तो सुनाई देती है. उसे यहां चर्चाका विषय न बनाना ही ठीक है). तब भी इतना तो विचारणीय है ही कि रुद्र-कालीके पूजकोंका देवलक होना रुद्र-कालीआदि देवताओंको इष्टदेव बनानेके अपराधवश नहीं है. क्योंकि शैवशास्त्रोंमें शैवोंकेलिये वह विहित है. बालबोध तथा सर्वनिर्णय निबन्धादि ग्रन्थोंमें भी इनकी ब्रह्मबुद्धिसे आराधनाको निर्दुष्ट कहा ही है. परन्तु पांचरात्रविधानज्ञ वैष्णवोंद्वारा जब वृत्त्यर्थ इनका पूजन किया जाता है तो वह आर्षेयोक्तविधानानुसारी नहीं होता. अतः ऐसी अवैदिकवृत्ति ही उनके पूजनप्रकारमें देवलकत्वापादक दोष पैदा करती है - यह स्वीकारना पड़ेगा. ऐसी स्थितिमें पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणाली भी, क्योंकि वेदविहित तो है नहीं अतः अवैदिक ही हुई. अतएव ''यस्तु वेदोदितं धर्मं त्यक्त्वा विष्णुं समर्चयेत् स पाषण्डित्वमापन्नो नरकं प्रतिपद्यते''(बृहद् हारीतस्मृ.)के अनुसार पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणाली, जो ब्राह्मणवृत्तितया वेदविहित नहीं है, उसे वृत्त्यर्थ करनेपर हम गोस्वामिओंमें शुद्धदेवलकत्व भी सिद्ध क्यों नहीं हो सकता - यह विमर्शकारको विचारना चाहिये था!

न तो हम गोस्वामी ऋषिप्रोक्त वैदिक विधानसे भगवत्सेवा करते हैं कि स्मृतिमुक्ताफलोक्त ''आर्षेयोक्तविधाने तु देवलत्वं न विद्यते तस्मात्सर्वप्रयत्नेन वैदिकेनैव पूजयेत्'' (विमर्श पृ.४२) वचन हमें देवलक सिद्ध होनेसे बचा पाये.

न ''पञ्चरात्रसिद्धदीक्षासंस्कारविरहितानां ब्राह्मणानां देवकोशोपजीवन-वृत्त्यर्थपूजनादिकम् उपब्राह्मणत्व-देवलकत्वावहम् इति निश्चीयते'' (विमर्श पृ.४७) यह आगमप्रामाण्यवचन ही हम गोस्वामिओंको देवलक सिद्ध होनेसे बचा पाता है. क्योंकि पांचरात्रदीक्षाविधिके अनुसार हमें आचार्यपद मिला नहीं है. देवकोश तो नाथद्वारामें 'कृष्णभण्डार'नामसे ही सिद्ध हो जाता है. अन्यत्र ठाकुरजीके नामोंकी रसीद फाड़नेसे सिद्ध होता है. तब ऐसे भण्डारोंमेंसे भोग धरी सामग्रीका प्रसाद लेनेसे देवकोशोपजीवन भी सिद्ध हो ही जाता है. ठाकुरजीके नामकी भेंट-सामग्रीकी रसीद फाड़नेके कारण नित्य तथा मनोरथ की सेवाकेलिये दर्शनार्थीजनसे द्रव्य ऐंठनेके कारण वृत्त्यर्थपूजन भी हम कर रहें ही हैं. (अन्यथा विमर्श प्रकाशित करनेकी भी आवश्यकता नहीं थी). फलतः आगमप्रामाण्यके वचनद्वारा भी हम गोस्वामी उपब्राह्मण देवलक सिद्ध हो रहे हैं.

विमर्श पृ.४९ पर ''मनुष्यस्थापित देवतास्थलमें देवलकता''शीर्षकके अन्तर्गत ''इदं मनुष्यस्थापितदेवताविषयमिति भाति'' धर्मसिन्धुके वचनका ''मज्जतः फेनावलम्बनम्'' किया है. परन्तु 'सन्मनुष्याकृति'में 'श्रीकृष्णास्य-अपरकृष्णावतार' महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा पुष्ट किये स्वरूपोंको मनुष्यस्थापित न भी मानें तो भी अन्य अनेकानेक स्वरूपोंकी जनतासे भेंट-सामग्री लेकर चलाई जाती हवेलियां हमारी देवलकताका ही कीर्तन गा रही हैं.उन्हें कैसे चुप करना! यदि हम अपने सभी गोस्वमिओंको पुरुषोत्तमभावसे मण्डित होनेके कारण किसी भी गोस्वामिद्वारा पुष्ट किये स्वरूपको मनुष्यस्थापित नहीं मानते तो रुद्र-कालीपूजक भी अपने-अपने गुरुओंको मनुष्य न मानकर शिवावतारतया मान्य कर अदेवलक सिद्ध हो जायेंगें!

''देवलकसम्बन्धी वृद्धहारीतस्मृतिके वाक्य'' (विमर्श पृ. ५०) शीर्षकके अन्तर्गत तथा तन्मूलक '''वैखानस'शब्दार्थपर पांच प्रकारके सम्भावित पक्ष'' (विमर्श पृ.५१) शीर्षकोंके अन्तर्गत किया गया समूचा प्रतिपादन ''चोरी करके चोरके भग जानेपर चपरासीके जग जाने'' जैसी बात है. क्योंकि वृद्धहारीतने अपना फैंसला सुना ही रखा है कि रुद्र-कालीके वृत्त्यर्थी पूजक ही नहीं अपितु विष्णुके भी पूजक जब अवैदिकविधिसे विष्णुपूजन करते हों तो उन्हें पाषण्डी नरकगामी मानना चाहिये. इस वृद्धहारीतस्मृतिद्वारा प्रदत्त श्रापसे बचनेका एकमात्र

उपाय यही सम्भव था कि यह अवैदिकविधिसे वृत्त्यर्थ विष्णुपूजकोंकेलिये कही गई बात है. अतः पुष्टिमार्गीय पूजाप्रकारपर लागू नहीं होती. सो वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाकी वकालतद्वारा स्वयं विमर्शकारने हम गोस्वामिओंद्वारा की जाती सेवा वृत्त्यर्थ है इस पापांगीकारके चोरको पुष्टिभावोंकी चोरी करके भाग जानेकी खुली छूट दे ही दी है!

फिर ''यस्तु वेदोदितं धर्मं त्यक्त्वा विष्णुं समर्चयेत् स पाषण्डित्वमापन्नो नरकं प्रतिपद्यते'' तथा ''आर्षेयोक्तविधानेन देवलत्वं न विद्यते तस्मात् सर्वप्रयत्नेन वैदिकेनैव पूजयेत् वैदिकेनैव विधिना दम्भलोभविवर्जितः पूजयेद् भक्तितो विष्णुं स हि देवलको न वै'' (विमर्श पृ.४०) वचनोंके साथ समन्वय करनेपर ''वैखानसास्तु ये विप्राः हरिपूजनतत्पराः न ते देवलकाः ज्ञेयाः हरिपादाब्जसंश्रयात्'' (विमर्श पृ.५०) वचनगत 'हरिपूजनतत्पराः'में 'वैदिकेनैव विधानेन हरिपूजनतत्पराः' अर्थ विवक्षित है ऐसे स्वीकारना पड़ेगा. इसे स्वीकारते ही 'वैखानस' शब्दकी पांच या पचीस जितनी भी अर्थसम्भावनायें हों, बनी रहें; वे हमें देवलकतासे बचा नहीं पाती है. अतएव ये सारेके सारे पक्ष भी चोरके भग जानेपर चपरासीके जग जानेकी वार्ता है! तासों कहां तांई कहिये!

'वैखानस'शब्दके अर्थोंको समझनेकेलिये जितने पक्ष सम्भावित हैं और जितने करतब दिखाने थे उन्हें दिखानेसे पहले एकबार स्वयं महाप्रभुसे विमर्शकारने पूछ लिया होता कि उन्हें इस 'वैखानस'शब्दसे कौनसा अर्थ विवक्षित है तो इतनी स्याही और समय की व्यर्थ ही बरबादी न होती!

'' 'वैखानसा'इति विखानसा ब्रह्मणा यानि भगवद्भजनादीनि वैखानससूत्रे उपदिष्टानि, वने स्थित्वा तत्कर्मकर्तारो वैखानसाः दैवाद् आगतवृत्तिजीविनः'' (सुबो. ३।१२।४२). अर्थात् विखनस = ब्रह्माजीने भगवद्भजनादिके जिन वैखानससूत्रोंका उपदेश दिया है तदनुसार वनमें रहकर दैवाद् आगतवृत्तिपर अवलम्बित होकर भजनादिकर्म करनेवाले 'वैखानस' कहे जाते हैं. इस सुपरिभाषित एक अर्थमें विमर्शकारद्वारा उत्प्रेक्षित पांचमेंसे चार पक्ष तो एकवद्भावापन्न हो ही जातें हैं.

पांचवे पक्षमें यह विचारणीय हो जाता है कि वैखानसोंको उद्देश्य बनाकर अदेवलकताका विधान विमर्शकारको अभीष्ट है अथवा अदेवलकोंको उद्देश्य बनाकर वैखानसताका विधान ?

अर्थात् ''जो-जो वैखानस होते हैं वे अदेवलक होते हैं'' ऐसा व्याप्तिनियम है या ''जो जो अदेवलक होते हैं वे सभी वैखानस होते

हैं'' ऐसा ? प्रथमकल्पमें कोई वैखानस दम्भ-पाषण्ड-हिंसादि दुर्वृत्तिशील भी वृत्त्यर्थ हरिभजन करता होगा तब भी उसे अदेवलक ही स्वीकारना पड़ेगा. द्वितीय कल्पमें चार्वाक-जैन-बौद्ध-सलमान-ईसाई-यहूदी ही नहीं अपितु गोगर्दभगजादि पशुओंको भी वे वैखानस हैं - ऐसे स्वीकारना पड़ेगा.

इस उभयतःपाशसे बचनेकेलिये उक्तविधानोंको व्याप्तिघटित न मानकर अव्याप्तिघटित भी माना जा सकता है. अर्थात् ''कुछ वैखानस देवलक नहीं होते''. (चाहें कुछ अन्य होते भी हों) तब पुनः सभी वैखानस अदेवलक नहीं होंगें. अतः वृत्त्यर्थ हरिभजनमें तत्पर हम गोस्वामी भी चाहे ''ये नखाः ते वैखानसाः'' वचनका 'वैष्णव' अर्थ कथञ्चित् खींच-तानकर निकाल भी लें तब भी बच नहीं पायेंगें. अतः ''वैखानसास्तु ये प्रोक्ता हरिपूजनतत्पराः न ते देवलका ज्ञेया'' (विमर्श पृ.५३) के वृद्धहारीतवचनके साथ समन्वयके सरकसद्वारा गोस्वामिओंकी अदेवलकताके प्रयासकी भ्रूणहत्या तो हो ही जाती है. क्योंकि विधान स्वयं व्याप्तिनियमघटित नहीं है!

(६) जो बात स्वार्थप्रतिष्ठापित देवप्रतिमाके वृत्त्यर्थ-स्वतः-परार्थ-पूजनके बारेमें कही गई है वह परतः परार्थपूजन करनेपर तो और भी अधिक गर्हणीय बन जायेगी. प्रायः जिन हमारी हवेलिओंमें हम नहीं रहते हैं वहां हमारे माथे बिराजते भगवत्स्वरूपोंकी सेवा उस गामकी दर्शनार्थिजनताके द्रव्यसे मुखिया-भीतरिया-बालभोगियादिकी बटालियनोंसे करवाते हैं. या समाधानीद्वारा अथवा ट्रस्टिओंद्वारा हम परतः करवाते हैं. यह तो बिचारे शास्त्र भी सोच नहीं पाये कि हॅडक्वार्टर जैसे मन्दिरोंकी ब्रान्च जैसे मन्दिरोंद्वारा भी देवलकताकी आजीविकाका व्यापार इतना कभी पनप जायेगा! अतः ''एकविज्ञानेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति'' न्यायसे अधिक विवेचनकी अपेक्षा नहीं है.

(७) परार्थप्रतिष्ठापित देवविग्रहका स्वतो वृत्तिरूप याजन (४)कल्पका पूरक है. तन्त्रशास्त्रानुमोदित ब्राह्मणवृत्ति है. विमर्शकार इस बारेके वचनोंको ही (५) और (६) कल्पके समर्थनार्थ दुरुपयोग कर रहे हैं. यह विशोधन हमने सुविशदतया कर ही लिया है.

(८) इस कल्पकी भी सूचना, जहांतक मेरी समझका सवाल है, शास्त्रमें मिलती नहीं है. वैसे अगाध अपार शास्त्रविस्तारमें केवल मेरी समझपर ही अवलम्बित होकर उत्प्रेक्षा करनेके बजाय यावद्वचनोपलब्धि धैर्यधारण ही एक उपाय लगता है. वेसे इसका स्वरूप कुछ कुछ हमारे यहां पंड्याजीके द्वारा जैसे उपाध्यायजी कर्म करवाते हैं वैसा है. इसमें ब्राह्मणवृत्तितया दोष दिखलाई नहीं देता परन्तु आधुनिक अनेक पुष्टिमार्गीय हवेलिओं बैठकजी आदिसे आती भेंट और मन्दिरोंमें आती सन्मुखभेंट बटोरनेवाले झापटियाजीकी नियुक्ति भी ठेकेपर की जाती है. ऐसे ठेकेसे आती भेंटके प्रकार भी हैं ही. अतः देवद्रव्यकी साक्षात् लाभहानि उन्हीं ठेकेदारोंको होती है. हम गोस्वामी अपना ठेका लेकर अपना लाभ सुरक्षित कर लेते हैं. यह तो शास्त्रकी कल्पनाके भी बहिर्भूत भगवद्भजनका एक विचित्र आधुनिक प्रकार है. यह अत्यन्त विलक्षण प्रकार है. शास्त्रकारसदृश ''गजाः यत्र मौनावलम्बनेन पलायन्ते तत्र मादृशानां मशकोपमानां तु का कथा!''

इस सारणीके आधारपर आठों कल्पोंके विचारके बाद अब अवशिष्ट रहता है विमर्शकारद्वारा पृष्ठ ४३-४७पर उद्धृत वचनोंका विचार.

तदन्तर्गत सर्वप्रथम पाद्मसंहिता चर्यापादके २१वें अध्यायके १३-२४ श्लोकोंके अन्तर्गत -

पञ्चकालं यथाशास्त्रं गृहे वा मन्दिरेपि वा।
भगवत्पूजनं कार्यमद्यप्रभृति नान्यथा।।
यूयं भागवतास्तेन जाता भगवदर्चनात्।
भगवद्भक्तिकरणाद् वंशजाताश्चतुर्मुख।।
आत्मार्थं यजनं विष्णोः कल्पतेऽभ्युदयावहम्।
तथा परार्थयजनं ग्रामे वा पत्तने पुरे।।
स्वगृहे वा स्वतन्त्रे वा कार्यं भागवतैः नरैः।
आत्मनश्च परेषां तन्निःश्रेयसकृद् भवेत्।।
अभागवतवंशैस्तु दीक्षितैरपि मानवैः।
आत्मार्थमेव यजनं न परार्थं कदाचन।।
परार्थयजनं तेषां गर्हितं विप्रसत्तमाः।
अभागवतवंश्योपि दीक्षितः शास्त्रवर्त्मना।।

परार्थयजनं कुर्याद् अपि भागवताज्ञया।

आदि वचनोंमें कहा है कि आत्मार्थ यजन स्वधर्मरूप है तथा परार्थ यजन ब्राह्मणकी आजीविका है. जो बात यहां मोहवशात् कभी भी सोचनी नहीं चाहिये वह यही है कि आत्मार्थ यजनको परार्थ नहीं बनाना अर्थात् धर्मको आजीविका नहीं बनाना चाहिये. इसी तरह परार्थ यजनको आत्मार्थ मानकर सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये. अर्थात् आजीविकाको धर्मकी पदवीपर 'सेव्यसुखजनक भजन' जैसे शब्दाडम्बरों द्वारा प्रतिष्ठापित नहीं कर देना चाहिये. साथ ही साथ यह भी नितान्त अवधेय है कि 'भागवतवंश' शब्द सामान्य प्रयोग नहीं परन्तु पारिभाषिक प्रयोग ही है. जैसे कि हमने देख लिया है कि समयी दीक्षित चक्रवर्ती अभिक्ति आचार्य और भगवान – ये उत्तरोत्तर उत्कृष्ट पदवियां हैं. इनमें भगवान पदवीधारिओंके पुत्र 'भागवत' कहे जाते हैं और उनके वंशको 'भागवतवंश' कहा जाता है. एतावता हम गोस्वामी अपने-आपको इस पारिभाषिक अर्थमें भागवतवंश मान नहीं सकते. अतः उन्हें मिली किसी भी तरहकी छूटके अधिकारी हम नहीं हो सकते. जैसे अवधूतचर्यामें विचरनेवाले परमहंसको दिगम्बर होनेकी जो छूट है वह हम गृहस्थिओंको मिल नहीं सकती.

अतएव स्वयं विमर्शकारद्वारा उद्धृत वचन यहां मननीय हैं–

परार्थयजनं कुर्युः विप्रा मुख्यानुकल्पयोः।
नैवाधिकारिणस्ते च गौणाः संस्कारवर्जिताः।।
यथैव दीक्षिणीयेभ्यो जायन्ते ब्राह्मणादयः।
तथैव दीक्षाविधिना जायमाना यथोदिताः।।
पूजाविधौ भगवतः प्रकल्प्यन्तेऽधिकारिणः।

(पाद्मसंहि. चर्यापाद अ.१।७-९).

विमर्शकारका कर्तव्य था कि इन श्लोकोंका अनुवाद कमसे कम दे देते ताकि सारा चित्र साफ-साफ उभरकर सामने आ जाता. अनुवाद दिये बिना २१वें अध्यायकी १३-२४वीं कारिकाओंका प्रतिपाद्यविषय निर्भूमिक ही रहता है. विमर्शकारने छोड़ दिया है तो चलो हम इसे यहीं छोडकर आगे चलते हैं.

विमर्शके पृष्ठ ४४-४५ पर तन्त्रशास्त्रके उस पारिभाषिक 'भगवान' 'भागवत' 'भगवद्वंशजात' शब्दोंको सामान्य अर्थमें प्रयुक्त मान करके ''अनन्यशरण

भगवद्भक्त उत्तम वैष्णव'' अनुवाद करनेकी बाललीलासे और अधिक हास्यास्पद कृत्य प्रकट किया है इन श्लोंकोंके व्याख्यानमें. पहले श्लोक देख लें–

मूल: भगवद्वंशजाता ये ते वै भागवता स्मृता।
यद् यद् तैः विष्णवे दत्तं समन्त्रं वाप्यमन्त्रकम्।।
शुचिभिः सर्वदा दक्षैः सदाप्यशुचिभिस्तु वा।
तत्सर्वं आत्मसात्कृत्वा प्रीतो भवति केशवः।।
आलयो हृदयं तेषां परमं परमात्मनः।
तेनैव सर्वदा.....
तेषां सम्पूजनादेव पूजितो भगवान् भवेत्।
.....ज्ञेयास्ते वैष्णवोत्तमाः।।
न दोषाय भवेत् तेषां भूत्यर्थमपि पूजनम्।
प्राप्तौ च गतिमात्रं वै वेतनार्थं न पूजयेत्।।
भूतिमूलं यजेद् देवं न रक्षापोषणं विना।

भावानुवाद: यथोक्तोक्त दीक्षाविधिके अनुसार जो 'भगवान' पदवीधारी हों उनके वंशजोंको भागवत समझना चाहिये. ये भागवत शुद्धिपूर्वक या शुद्धिके बिना ही मन्त्रके साथ या बिना मन्त्रके ही जो भी विष्णुको निवेदित करते हों उसे प्रीतिपूर्वक भगवान स्वीकारते ही हैं. (जैसे गोविन्दस्वामीको श्रीनाथजी जब घोड़ा बनाकर सवारी करते थे तब अशुचिकर मूत्रोत्सर्ग भी उन्होंने कर दिया था, इसी तरह जैसे बजारकी जलेबी श्रीनाथजीको भोग धरी गई थी. या जैसे गोविन्दस्वामीने श्रीनाथजीको कंकड़ मारे, या जैसे कुम्भनदासजीको सूतकमें दर्शनकी आज्ञा दी गई.) इनके हृदयमें प्रभु बिराजते होनेसे इनका पूजन भगवत्पूजन ही होता है. (जैसे आशकरणदासजी या श्रीचैतन्य महाप्रभुको अनप्रसादी खिलाया गया). इन भागवतवंशजोंका वैभवयुक्त पूजनसे करनेसे भी इनमें कोई विकारदोष नहीं प्रकट होता. इनके द्वारा जब भगवत्पूजन करवाना हो तो इन्हें केवल वेतन देनेकी बुद्धिसे भगवत्पूजन न करे. क्योंकि सारी भूतिओंके (वैभवोंके) मूल भगवानका पूजन, इन भक्तोंके रक्षण-पोषण किये बिना नहीं करना चाहिये.

यही कारण था आशकरणजीको अनप्रसादी खिलानेपर श्रीनवनीतप्रियजीने दोबार राजभोग स्वीकारनेकी बात कही थी ! परन्तु देवलकतामोहित विमर्शकार यहां विधान कर रहे हैं– ''यहां 'पूजयेयुः'के स्थानपर 'पूजयेत्' पदप्रयोग आर्ष है . . . यहां रक्षापोषणके बिना देवपूजा करनेका निषेध होनेसे उक्त वाक्य परार्थ पूजनसे ही सम्बन्धित है. इससे सिद्ध हुआ कि पांचरात्रागमज्ञ लोगोंके लिये वृत्त्यर्थ परार्थ भगवत्सेवा निषिद्ध नहीं परन्तु वेतनार्थ परार्थ भगवत्सेवा निषिद्ध है'' (विमर्श पृ.४५).

शान्तं पापं ! शान्तं पापं !! कहांकी बात कहां जाकर भिड़ा दी है !!! इसे भी एक आर्षप्रयोग कहना चाहिये !

जब पूर्वपंक्तिमें– ''तेषां सम्पूजनादेव पूजितो भगवान् भवेत् सर्वावस्थायुतान् सर्वान् देवमुद्दिश्य पूजयेत्''द्वारा वाचनिक सन्दर्भ भगवत्पूजनका नहीं अपितु वैष्णवोत्तम भागवतोंके पूजनका ही है, तब अकस्मात् ''अनन्यशरणा भक्ता ज्ञेयास्ते वैष्णवोत्तमा न दोषाय भवेत् तेषां (कर्मणि षष्ठी है, कर्तरि षष्ठी नहीं !) भूत्यर्थमपि पूजनम्'' देवपूजनविधि कैसे सिद्ध हो जायेगी ! यहां अन्वय यों है: वैष्णवोत्तमानां भक्तानां वैष्णवेन कृतं भूत्यर्थमपि पूजनं दोषाय न भवेत्. 'पूजयेत्' क्रियापद यहां दो बार प्रयुक्त हुआ है. (१) ''सर्वावस्थायुतान् सर्वान् (तान् भागवतान्) देवमुद्दिश्य पूजयेत्''. (२) ''प्राप्तौ च गतिमात्रं वै वेतनार्थं न पूजयेत्''. यहां दोनों क्रियापदोंमें एकवचन प्रयुक्त हुआ है और इसका कर्ता सामान्य वैष्णव है, उल्लिखित बहुवचननिर्दिष्ट भागवत नहीं. इसी तरह ''तेषां भागवतानां रक्षापोषणं विना भूतिमूलं देवं न यजेत्''में भी एकवचननिर्दिष्ट कर्ता सामान्य वैष्णव ही है, वे भागवत नहीं. परन्तु पित्तविकारवश जब श्वेतशंख भी पितिमायुक्त दिखलाई देता है तो वह रोगस्वभावजन्य विवशता है– ''स्वभावस्यान्यथाभावो न वै शक्यः कथञ्चन'' !

इसके बाद आगमप्रामाण्यके वचनोंके उद्धरणोंमें भी श्लोकमें कहा है:''केचित् यदि परं सन्तः शाश्वतावृत्तिकर्शिताः याजयन्ति महाभागैः वैष्णवैः वृत्तिकारणात्, न तावतैषां ब्राह्मण्यं शक्यं नास्तीति भाषितुम्, न खल्वाध्वर्यवं कुर्वन् ज्योतिष्टोमे पतिष्यति, यदि न प्रतिगृह्णीयुः पूजैव विफला भवेत्, पूजासादुण्यसिद्ध्यर्थम् अतः ते प्रतिगृह्णते.'' इस वचनका भाव यों है: कुछ भागवत याजनरूप आजीविकाके अंगतया पूजनकी दक्षिणाका द्रव्य लेते हैं (न कि स्वधर्मरूप यजनके अंगतया). क्योंकि यदि वे दक्षिणाका प्रतिग्रह न करते हों तो पूजा विफल हो जायेगी. यह

विफलता यजनरूप धर्मकी विफलता है क्योंकि पूजार्थ वित्तजासेवा यजमानकी होती है और वाक्तनुजासेवा याजककी. अतः याजकद्वारा अनुष्ठित वाक्तनुजासेवाका दक्षिणाप्रदानद्वारा यजमान परिक्रय करता है ताकि पूजाफल यजमानको मिले. क्या पू.पा.गो.म.श्रीओंको भय सताता है कि उनका चित्त अपने माथे बिराजते ठाकुरजीमें कहीं चोंट न जाये ! एतदर्थ उन्हें विवश होकर दर्शनार्थी जनतासे धन लेना पड़ता है ? क्या ''यदि न प्रतिगृह्णीयुः सेवैव विफला भवेत् सेवासादुण्यसिद्ध्यर्थमतस्ते (गोस्वामिनः) प्रतिगृह्णते'' श्लोक विमर्शकारकी विवक्षा है ? अन्यथा पुष्टिमार्गीय तनुवित्तजा सेवामें तनुजा + वित्तजाको खीरकी कारणसामग्री माननेपर पराये वित्त लेनेकी आवश्यकता क्या है ? सेव्यसुखजननकेलिये ! तो क्या पद्मनाभदासजीके छोलासे उनके सेव्यको परिश्रम था ? सेवकोंके उद्धारकेलिये ! तो महाप्रभुने–प्रभुचरणने प्रत्येक ग्रामोंमे, जहां–जहां आप यात्राके अन्तर्गत पधारे, उद्धारार्थ हवेलियां क्यों नहीं खोली ? इससे लगता है– उद्धारका यही एकमात्र उपाय तो नहीं होना चाहिये. यदि कहा जाये कि महाप्रभु एवं प्रभुचरण अकेले थे और आचार्यके सेव्यस्वरूपकी वित्तजा सेवाके बिना उद्धार नहीं हो सकता तो इसको प्रमाणित करनेवाला आचार्यवचन कौनसा है ? यदि कहा जाये कि गुरु अव्यावृत्त होकर सेवा करते हैं अतः उनकी स्वधर्माचरणरूपा सेवा उनके सेव्यको अधिकाधिक सुखजनिका हो जाये एतदर्थ स्वार्थ भगवद्भजनमें परद्रव्य अंगीकारार्ह बनता है तो वह तो अपनी चरणभेंटसे या वैष्णवोंके घर बिराजते ठाकुरजीकी मुखियागिरी भीतरियागिरी बालभोगियागिरी दूधघरियागिरी फूलघरियागिरी शाकघरियागिरी कीर्तनियागिरी या पखावजियागिरी भी पू.पा.गो.म.श्री करते होते तो भी परार्थ यजनकी तरह शास्त्रानुमत होता ही. यदि वैष्णवोंके माथे बिराजते ठाकुरजी वैष्णवके उद्धारार्थ हैं, पू.पा.गो.म.श्रीओंके उद्धारार्थ नहीं, तब पू.पा.गो.म.श्रीके माथे बिराजते ठाकुरजी भी पू.पा.गो.म.श्रीओंके ही उद्धारार्थ होने चाहिये, वैष्णवोंके उद्धारार्थ नहीं. पू.पा.गो.म.श्रीओंके ठाकुरजी स्वयं गुरुके तथा वैष्णवोंके दोनोंके उद्धारार्थ हैं अतः वैष्णवोंसे द्रव्य लेना पड़ता हो तो जिनके स्वयंके माथे सेवा बिराजती हो, कमसे कम, ऐसे वैष्णवोंसे तो द्रव्य नहीं लेना चाहिये !

बालकबुद्धिप्रसूत इन सारी युक्तिओंके मूलमें श्रीयामुनेयाचार्यजीके ''ऋत्विजा धनलुब्धेन स्वयं याञ्चापुरस्सरम् यदार्त्विज्यं कृतं कर्म तदैव हि निषिद्ध्यते'' वचनद्वारा प्रतिषिद्ध निषिद्धाचरणकी दुर्वृत्ति ही काम करती दिखलाई देती है.

कुछ अपठित गोस्वामी विधान करते हैं कि निजघरमें ठाकुरजीकी सेवा करनेसे वैष्णवोंको रासस्थ गोपिओंकी तरह सौभाग्यमद पनप सकता है, ऐसा कि जिससे स्वयं भगवानको ही तिरोहित होना पड़े. अतः दैन्यभावके निर्वाहार्थ सार्वजनिक हवेलिओंमें वैभवके साथ बिराजते ठाकुरजीके दर्शन करनेका विप्रयोग तथा दर्शनके समय गोस्वामिओंके भण्डारोमें अधिक वैभवकी अभिवृद्धिकेलिये भेंट-सामग्री जमा कराते रहना चाहिये (ताकि अधिकाधिक वैभवके साथ बिराजते ठाकुरजीका अधिकाधिक विरह होता रहे और दैन्य बढ़ता रहे!). परन्तु इस नियमके सच होनेपर सर्वप्रथम गोस्वामिओंको अपनी हवेलीमें सेवा बन्द करके सर्वाधिक वैभवके साथ बिराजते श्रीनाथजीका विरह करना चाहिये. अन्यथा गोस्वामिओंमें भी सौभाग्यमदके प्रकट होनेपर श्री बढ़ेगी परन्तु श्रीनाथके तिरोहित होनेकी सम्भावना रहती है! अतः ऐसे अनर्गलप्रलापकी अधिक क्या चर्चा करनी?

कुल मिलाकर इस तरह तन्त्रशास्त्रके अनुसार भी गोस्वामिवर्ग आज जिस तरह दर्शनार्थिवर्गसे रुपये ऐंठ रहा है उसे धर्म्य नहीं कहा जा सकता है - यह सिद्ध हुआ.

इसके बाद अब हमें साम्प्रदायिक ग्रन्थोक्त निर्देशोंके विचारपूर्वक क्या साम्प्रदायिक गुरुत्वके अन्तर्गत वृत्त्यर्थ भगवद्भजन धर्म्य हो सकता है? - इस प्रश्नके समाधानको खोजनेको आगे बढ़ना है.

सिद्धान्तसार

यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः इति.

- सुबो. २।९।१९.

जो स्वार्थ (वृत्त्यर्थ भूत्यर्थ प्रतिष्ठार्थ) भगवत्सेवन करता हो उसे अधम (अर्चक) समझना चाहिये.

- महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य.

साम्प्रदायिक गुरुत्व

मूलः

(क)

नमः पितृपदाम्भोजरेणुभ्यो यन्निवेदनात्।
अस्मत्कुलं निष्कलंकं श्रीकृष्णेनात्मसात्कृतम्॥

(ललि. त्रिभं. स्तो. १).

भुवि भक्तिप्रचारैक कृते स्वान्वयकृत्पिता।
स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः स्मयापहः॥

(सर्वो. स्तो.).

(ख)

माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम्।
शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकांक्षा गुरोर्भवेत्॥
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात्॥
देहद्रोण्या यियासूनां परं पारं भवाम्बुधेः।
गुरुणा कर्णधारेण उत्तार्या स्वोपदेशतः॥

(साध. दीपि. ९-११).

(ग)

गुरुश्च भक्तिमार्गीयः कृष्णसेवापरायणः।
श्रीभागवततत्त्वज्ञो दम्भादिरहितो नरः॥
तदभावे तथाभूतोपदेशोऽत्र नियामकः।
अथाधुनिकतीर्थानामतथाभूततोपि हि॥
उपदेशस्तथाभूतगुरोरिव फलिष्यति।
यदि दुःसंगदोषेण नान्यथा चेद् भवेन्मतिः॥

(स्व. शर. सम. से. स्वरू. निरू. ४९-५१).

अदम्भः सर्वथापेक्षारहितः करुणापरः।

विचार्य वरणं श्रीमदाचार्यपदसंश्रयः ।।

स्वसेवकाय शुद्धाय सततं प्रयतात्मने ।

प्रयच्छेत् तत्स्वरूपं तु फलरूपतया पुनः ।।

(स्वमा. स्वरू. स्था. प्रका. १६-१७).

(घ)

''एवं धनस्यापि भगवद्भक्तेषु आनत्यर्थं श्रवणादिसिद्ध्यर्थम् उपदेशनार्थं वा देयम् अपेक्ष्यते. साधनरूपश्रवणादिकं तादृशैरेव भवति'' (सुबो. २।३।३) इति तत्रापि धनदातुः सत्फलं प्रतिगृहीतुस्तु संसारोत्पत्तिः ''भिक्षाशया'' ( ) इतिवाक्यात्. यदि तु तत्त्वविचारार्थम् उदरभरणोपयोग्यन्नमात्रं गृह्णाति तदा तु तीर्थपर्यटितृवत् न दोषः इति बोध्यम् . . . ननु ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ''कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमंगलं कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिता'' इति ब्रह्माणं प्रति पृथिवीवाक्यात्, ''मन्नामविक्रयी विप्रो न हि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते'' श्रीनन्दं प्रति भगवद्वाक्यात् च नामविक्रयस्य दोषत्वे शिष्येभ्यो भगवन्नामोपदेशस्यापि दोषत्वापत्तिः. तत्र शिष्योपढौकितग्रहणेन नामविक्रयसम्भवाद् इति चेत् सत्यम्. तथापि गुरुत्वस्य साहजिकब्राह्मणवृत्तित्वेन अत्याज्यत्वात्..श्रुतावपि...जनकेन ''हस्त्यृषभसहस्रं ददामि'' इति उक्ते याज्ञवल्क्येन ''पिता मे मन्यत नाननुशिष्य (वित्तं) हरेद्'' इति उक्त्वा पूर्णा ब्रह्मविद्या उपदिष्टा . . . किञ्च गीतायामेव सहजकर्मात्यागम् उक्त्वा...असक्तबुद्धित्वादिभिः तत्कर्मसंन्यासेन नैष्कर्म्यसिद्धिप्राप्तिं कथयता भगवता तद्दोषपरिहारस्य उक्तत्वात् च तथाकरणे दोषाभावाद् इति. एवञ्च यत् प्रभुचरणैः उक्तं ''विचार्यैव सदा देयं कृष्णनामविशेषतः अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यति'' इति तत्रापि स्वस्य शिष्यस्य च उद्धारं विचार्यैव देयम्. लोभाद् अविचारितदाने तु नामविक्रयापत्त्या दाता स्वयम् अपराधभाग् भवति.

(श्रीपुरु.कृत जलभेदविवृति ३-४).

तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति. युक्तं च एतत्, अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसंजनात्. किञ्च ऋतोत्तरम् अमृताख्यायाः अयाचितवृत्तेः उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्य तु -एवं संकोचे तस्यामपि प्रशस्तत्वसिद्धिः.

(श्रीपुरु.कृत स्ववृत्तिवाद).

गुरुणा वेशादिना मार्गरुचिं परीक्ष्य जिज्ञासां च अवगत्य प्रश्नान्तरं सेवादिकम् (न तु वृत्त्यर्थं प्रदर्शितव्यं किन्तु) उपदेष्टव्यम् इति.

(त.दी.नि. सर्वनि. आव.भं.२५५-२५६).

(ङ)

यो वदत्यन्यथावाक्यम् आचार्यवचनाज्जनः ।

संसृतिप्रेरको वापि तत्संगो दुष्टसंगमः ।।

यश्च कृष्णे रतिर्नित्यं बोधयत्यप्रयोजनाम् ।

निरपेक्षः सात्त्विकश्च तत्संगः साधुसंगमः ।।

एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेष्वन्येषु वा पुनः ।

महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः संगनिर्णयः ।।

श्रीमदाचार्यचरणे मतिः स्थाप्या सदा स्वतः ।

ततएव स्वकीयानां सिद्धिः कार्यस्य सर्वदा ।।

(शिक्षापत्र ३।९-११).

अनुवादः (क) जिन महाप्रभुके द्वारा श्रीकृष्णको निवेदित करनेके कारण श्रीकृष्णने अंगीकार करके हमारे कुलको निष्कलंक बनाया ऐसे महाप्रभुके चरणकमलोंकी रेणुओंको मेरे नमस्कार ! (ललि. त्रिभं. स्तो.).

भूतलपर पुष्टिजीवोंकेलिये पुष्टिभक्तिके प्रचार करनेके हेतुसे ही मेरे पिता महाप्रभुने पुष्टिमार्गके प्रवर्तनके साथ-साथ स्ववंशको भी प्रकट किया. एतदर्थ अपना अशेषमाहात्म्य अपने वंशमें स्थापित किया. अतएव किसीको भी स्मय करनेका कोई कारण नहीं रहने दिया है (सर्वो. स्तो.).

(ख) भगवन्माहात्म्यके ज्ञापनार्थ भगवानके गुण-कर्मोंका श्रवण कराना पड़ता है, इसीलिये शास्त्रोंकी उपयोगिता है. शास्त्रोंके इस ज्ञानकेलिये गुरुकी आकांक्षा रहती है. कृष्णसेवापर दम्भादिरहित श्रीभागवततत्त्वज्ञ जो हो ऐसे नरका गुरुके रूपमें सादर भजन करना

चाहिये. इस देहकी डोंगीसे भवसागरके जो पार उतरना चाहते हों उन्हें गुरु अपने सदुपदेशद्वारा कर्णधार बनकर पार पहुंचाये (साध. दीपि.).

(ग) गुरु भक्तिमार्गीय कृष्णसेवापरायण श्रीभागवततत्त्वज्ञ दम्भादिरहित नर होना चाहिये. ऐसा गुरु न मिलता हो तो ऐसे महाप्रभुके उपदेशको ही इस भक्तिमार्गपर अपना नियामक मान कर प्रवृत्त हो जाना चाहिये. आधुनिक गुरुपदाधिष्ठितोंमें यदि यह लक्षण दिखलाई न भी देते हों तो भी, यदि महाप्रभुके वास्तविक सिद्धान्तोंका उपदेश वे करते हों तो, वैसे लक्षणवाले गुरुके उपदेशकी तरह ही फलीभूत होगा. शर्त उसमें यही है कि दुःसंगदोषसे मति अन्यथा न हो गई हो तो. (स्व.शर.सम.से.स्व.निरू.).

किसी भी तरहके दम्भके बिना– किसी तरहकी अपेक्षा रखे बिना श्रीआचार्यप्रकटित मार्गमें इस जीवका वरण हुआ है बस इसी एक करुणाके भावको रखते हुए –आचार्यचरणके दृढ आश्रयको मनमें रखकर पुष्टिभक्तिमार्गपर सतत प्रयत्नपूर्वक अग्रसर होना चाहनेवाले अपने शुद्ध सेवकको पुष्टिभक्तिके फलरूपतया पुष्ट किया हुआ स्वरूप पधरा देना चाहिये. (स्वमा.स्वरू.स्था.प्रका.).

(घ) ''भगवद्भक्तोंको नमनार्थ, वे उपदेश प्रदान करें एतदर्थ, श्रवणादिभक्ति सिद्ध हो पाये एतदर्थ भी धनकी अपेक्षा तो रहती है. साधनरूप श्रवण तो इसी तरह होता है'' (सुबो. २।३।३) –इस वचनके अनुसार भी धनदाताको सत्फल होता है परन्तु धनप्रतिगृहीताको संसार ही बढ़ता है. ''भिक्षाशया'' ( )वचनके आधारपर तीर्थपर्यटननियमकी तरह तत्त्वविचारार्थ केवल उदरभरणोपयोगी मात्र अन्नका यदि प्रतिग्रह किया जाता हो तो दोष नहीं होता . . . ब्रह्मवैवर्तके श्रीकृष्णजन्मखण्डमें ''भगवानके मंगलमय नामोंका जो विक्रय करते हैं उनके भारसे पृथ्वी पीड़ित रहती है'' ब्रह्माजीके प्रति पृथ्वीके वचन तथा ''मेरे नामका विक्रय करनेवाला विप्र कभी मुक्त नहीं हो सकता. मरते समय भी ऐसोंको मेरा नाम कभी याद आ नहीं सकता'' ऐसे श्रीनन्दरायजीके प्रति भगवद्वचनके आधारपर नामविक्रयके दोषरूप होनेसे शिष्यको नामोपदेश करना भी दोषरूप बन जायेगा, क्योंकि शिष्योंद्वारा धरी गई भेंट स्वीकारनेपर भी नामविक्रयकी सम्भावना

हो सकती है. ऐसी शंका यदि उठती है तो वह एक हकीकत है. (श्रीपुरुषोत्तमजीने ''इति चेत् न'' कहनेके बजाय ''इति चेत् सत्यम्'' कहा है). फिर भी गुरुत्व ब्राह्मणकी साहजिकवृत्ति होनेसे इसे छोड़ी नहीं जा सकती. श्रुतिमें भी...जनकने याज्ञवल्क्यको दान देना चाहा तब याज्ञवल्क्यने यही कहा कि मेरे पिताने मुझे यह समझाया है कि ''उपदेश दिये बिना किसीका वित्त नहीं हर लेना चाहिये''. यह कहकर ब्रह्मविद्याका उपदेश किया . . . गीतामें सहजकर्मोंका त्याग न करनेकी बात कहकर...अनासक्तबुद्धिसे कर्म करना ही सच्चा कर्मसंन्यास है जिससे नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होती है –ऐसा कहा है. अतः गुरुत्वकी वृत्ति भी अनासक्तबुद्धिसे करनेपर दोष नहीं लगेगा. इसी तरह प्रभुचरणकी ''दान सर्वदा पात्रापात्रके विचारपूर्वक ही करना चाहिये. विशेषतः 'कृष्ण'नामका दान तो, क्योंकि बिना पात्रापात्रके विचार किये हर किसीको नामदीक्षा देनेपर दीक्षादाताका स्वयंका विनाश हो जाता है'' इस आज्ञाके अनुसार भी अपने तथा शिष्यके स्वस्वकर्तव्यपालनद्वारा ही केवल उद्धार सम्भव है, अन्यथा नहीं –इसी विचारसे नामदीक्षाका प्रदान करना चाहिये. लोभवश (हर किसीको 'श्रीकृष्ण'नामकी दीक्षा देकर गलेमें कण्ठी बांधकर भेंट–सामग्री धरनेवाले मोड़ा पैदा करनेके चक्करमें) तो नामविक्रय होता ही है और देनेवाला अपराधी बनता ही है. (श्रीपुरु.कृत. जलभेदविवृति).

इससे (अर्थात् कलियुगमें याजनवृत्तिका आदर्शरूपमें निर्वाह सुकर नहीं रह गया होनेसे) गुरुत्व ही केवल वृत्ति बची रह गई है. यह उचित भी है क्योंकि किसीका कुछ भी उपकार किये बिना निरर्थक धन ले लेनेसे उसका ऋणी बनना पड़ता है, जो बन्धनकारी होता है. वैसे भी ऋतवृत्तिके बाद बिना मांगे जो मिले उससे निर्वाह चलानेकी अमृतवृत्ति अपनानेको कहा गया है. इस अमृता वृत्तिको भी बिना मांगे जो अपने शिष्योंसे मिलता हो उसीसे निर्वाह चलानेका, अर्थात् जो अपने शिष्य न हों उनका धन न लेनेका व्रत रखना ही प्रशस्तवृत्ति है. (स्ववृत्तिवाद).

गुरुको चाहिये कि वेश–भाषा–व्यवहार–भाव आदिद्वारा आनेवाले व्यक्तिकी पुष्टिमार्गमें रुचि है कि नहीं –यह अच्छी तरह

परीक्षा कर लेनेपर तथा आनेवाला सचमुचमें जिज्ञासु है यह जान लेनेपर उसके प्रश्नके अनुरूप उसे सेवादिक (वृत्त्यर्थ प्रदर्शन नहीं प्रत्युत केवल) उपदेश करना चाहिये. (त.दी.नि. सर्वनि. २५५-२५६).

(ङ) जो महाप्रभु-प्रभुचरणके वचनोंसे (तनुवित्तजाकी जगह तनुजा + वित्तजा जैसी) विपरीत कोई बात करता हो, या सांसारिकताको बढ़ानेकी बात करता हो (जैसे आधुनिक कई अपठित गोस्वामी आजकल कहते हैं - घरमें सेवा करनेसे गर्व हो जायेगा सो रासलीलाकी तरह भगवान छिप जायेंगे, अतः मन्दिरमें दर्शन करने आनेकी विरहोत्कण्ठा रखनी चाहिये. ताकि भेंट-सामग्रीकी उनकी दुकान चलती रहे! परन्तु इस विधानमें यदि सत्यनिष्ठा हो तो स्वयं गोस्वामी क्यों भगवत्सेवा छोड़कर दर्शनविरहोत्कण्ठा बढ़ाते नहीं है?) ऐसोंका संग दुष्टसंग होता है. जो अपने निजी स्वार्थके बिना कृष्णभक्तिका बोध प्रदान करता हो, जो स्वयं निरपेक्ष (वृत्त्यर्थी या कीर्त्यर्थी नहीं) हो तथा (इस निरपेक्षतावश अहंकारी न होकर) सात्त्विक हो उसका संग साधुसंग होता है. इन बातोंको ध्यानमें रखकर ही अपने-पराये और महत्कुलप्रसूत गोस्वामी बालकोंके साथ भी संग करने या न करनेका निर्णय लेना चाहिये. श्रीमदाचार्यचरणके हार्दको समझकर (पुष्टिमार्गको अनुसरनेके प्रयासमें परमुखापेक्षिता नहीं रखनी चाहिये) स्वतः वहां अपनी मति स्थापित करनी चाहिये. इसीसे सभी पुष्टिमार्गीयोंके सारे कार्य सिद्ध हो जायेंगें. (शिक्षापत्र).

ये सारे वे वचन हैं जिन्हें शुद्धभावसे सुनने-पढ़ने सोचने-समझने तथा मतिकृतिरतिमें उतारनेपर विमर्शग्रन्थके ९० प्रतिशत पृष्ठ - स्याही कागज तथा समय की शुद्ध बरबादी लगने लगते हैं.

(क)

''अस्मत्कुलं निष्कलंकम्'' कारिकापर श्रीहरिरायजीकी भाषाटीकाके आधारपर उसके अनुसार संस्कृत व्याख्या लिखनेवाले श्रीरघुनाथात्मज श्रीव्रजनाथजीने अतीव मननीय व्याख्या लिखी है. वे कहते हैं - ''यत्कृतनिवेदनेनैव अस्मत्कुलं निष्कलंकं ज्ञात्वा सदानन्देन प्रभुणा स्वाधीनीकृतम्. सकलंकत्वे अर्पणायोग्यत्वात् निवेदनं न कुर्युः, उत्तमानामेव पदार्थानां तद्योग्यत्वात्. श्रीमदाचार्यकृतस्वीयत्वभावनयैव

निष्कलंकत्वं कुले ज्ञेयम्. कलंको अत्र भगवद्वैमुख्यं ज्ञेयम्''. अर्थात् महाप्रभुने अपने 'दारागारपुत्राप्तादि' के निवेदनके अन्तर्गत क्योंकि अपने समग्र कुलका ही पुष्टिप्रभुको निवेदन-समर्पण किया है, अतः श्रीवल्लभवंशको निष्कलंक समझना चाहिये. पुष्टिप्रभुने भी ''ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्हि'' वचनके अनुरूप निवेदिततया निर्दिष्टको निष्कलंक मानकर अंगीकार किया है. क्योंकि यदि यह कुल सकलंक होता तो निवेदनायोग्य होनेसे महाप्रभु इसे भगवानको निवेदित-समर्पित ही नहीं करते. क्योंकि उत्तम पदार्थ ही निवेदनयोग्य होते हैं. महाप्रभुद्वारा इस कुलको स्वीय मानना ही उस कुलकी निष्कलंकता है. भगवानसे विमुख होना ही यहां कलंक है.

यदि सोनाकी कटोरीकी वार्ताप्रसंगके आधारपर हम यह खोजनेका प्रयास करें कि कब महाप्रभु हमें अपना = स्वीय मानना चाहेंगें और कब वे अपना = स्वीय माननेसे इन्कार कर देंगें तो ये सुस्पष्ट शब्दावली सामने आती है - ''जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहीं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो कबहू देवद्रव्य न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो. तातें वा प्रसादमेंते भोजन करवेको अपनो अधिकार न हतो. वाकेलिये गौअनकों खवायो और श्रीयमुनाजीमें पधरायो.'' बावजूद इसके विमर्शकारने पृष्ठ २१ पर ''महाप्रभुके भूखे रहनेके कारण उनके शिष्योंने प्रसाद ग्रहण नहीं किया'' ऐसी कुकल्पना प्रस्तुत की है तथा ''देवद्रव्य होनेके कारण नहीं परन्तु महाप्रभुने अपनी ओरसे ठाकुरजीको कुछ नहीं आरोगाया इसलिये नहीं आरोगे'' -ऐसा कुविमर्श किया है. जबकि महाप्रभुने स्पष्ट शब्दोंमें 'अपनो' शब्द वापरा है जिसका अर्थ है सकुटुम्ब महाप्रभु और संबोधित किये जाते सेवक वैष्णव भी. देवद्रव्यभक्षणका यह मोह भगवद्वैमुख्य नहीं तो और क्या है? निश्चित ही वल्लभकुलके ५०० वर्षके इतिहासमें इससे अधिक कलंकास्पद विधान किसी गोस्वामी बालकने कभी किया नहीं होगा!

महाप्रभुके प्राकट्यहेतुको झुठलानेका यह षडयन्त्र है. महाप्रभु भूतलपर प्रकट हुए पुष्टिजीव उनके निजफलरूप निजगृहस्थित भगवत्स्वरूपकी तनुवित्तजा सेवा(द्र. ''भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्'' -पु.प्र.म.)से वंचित न रह जाये एतदर्थ ही. स्वयं प्रकट हुए तथा अपने बाद भी पुष्टिभक्तोंके हितार्थ पुष्टिभक्तिका प्रचार चलता ही रहे तदर्थ गार्हस्थ्य स्वीकार कर वंश स्थापित किया. निर्दोष ब्रह्मकी दोषरहित सेवा दोषाक्रान्त होनेसे पुष्टिजीव भी कैसे कर पायेगा एतदर्थ पुष्टिप्रभुसे वचन भी लिया कि ''ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः

सर्वदोषनिवृत्तिर्हि'' (सि.र.). यह अशेषमाहात्म्य आपने अपने वंशमें स्थापित भी किया. फिर भी अपनेमें स्थापित उस माहात्म्यके साथ विद्रोह कर देवद्रव्योपजीवन तथा देवलकतावृत्ति का अवलम्बन करनेवाले स्ववंशज महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण या प्रभुचरण श्रीविठ्ठलनाथचरण को क्या कभी स्वीय लग सकते हैं ? नहीं; सर्वथा नहीं.

श्रीहरिरायजीने यद्यपि इसी माहात्म्यके आत्मविश्वासका अवलम्बन करके इन नामोंकी व्याख्या कुछ इस तरहसे की है कि आधुनिक आचार्यवंशज उस वचनकी दुहाई देकर अपने सर्वविध अकाण्डताण्डवोंको अपने अशेषमाहात्म्यतया निरूपित करना चाहेंगें. तदर्थ एकबार उस अंशके अप्रकाशित होनेसे यहां पहले उसे उद्धृत करके बादमें उसके निगूढ़ अभिप्रायका अन्वेषण करेंगें:

मूल: 'स्ववंश'पदेन 'स्थापित'पदेन च कालादिभ्यो बाहिमुर्ख्यस्य अन्यदर्शनप्रतीत्यापि नान्यथा भविष्यति इति ज्ञापितम्. यथा शैलादिमूर्तिषु महापुरुषस्थापितासु न कदाचिदपि तत्कृपया भगवत्सान्निध्यं गच्छति. तत्र साक्षात्प्रभुस्थापने किं वक्तव्यम् इति भावः. यथा शालिग्रामशिलामूर्तौ स्थापनव्यतिरेकेनापि भगवत्सान्निध्यमस्ति, पुष्टिभक्तसेवनेन पुरुषोत्तमाविर्भावो यथा भवति, तथा अत्रापि तद्वंशत्वेन माहात्म्यम् अस्त्येव परन्तु स्वमाहात्म्यं पुरुषोत्तमात्मकं स्थापितम् इति भावः. 'अशेष' इतिपदेन तत्कृतनिवेदनान्तरं सर्वेषां तथैव साक्षात्कारादि स्वस्य च लीलात्मकस्वरूपादिकम् इति भावः. (''भुविभक्तिप्रचार...स्मयापहः'' की श्रीहरिरायजीकृतव्याख्या).

अनुवाद: 'स्ववंश'पद तथा 'स्थापित'पद के प्रयोगसे यह सिद्ध होता है कि किसीको कालादिके कारण आचार्यवंशजोंमें बहिर्मुखता प्रतीत भी होती हो तो भी आचार्यवंशजोंमें बाहिर्मुख्य सम्भव नहीं है – यह ज्ञापित होता है. जैसे महापुरुषद्वारा स्थापित शैलादिमूर्तिमें महापुरुषोंपर कृपाविशेषके कारण कभी भगवत्सान्निध्य निवृत्त नहीं होता है. ऐसी स्थितिमें साक्षात् प्रभुद्वारा की गई किसी स्थापनाके बारेमें कुछ कहनेकी आवश्यकता रहती ही नहीं है – यह भाव है. जैसे शालिग्रामकी शिलामूर्तिमें स्थापनाके बिना ही नित्य भगवत्सन्निधान रहता है और पुष्टिभक्तके द्वारा सेवन किये जानेपर वहां पुरुषोत्तमका भी आविर्भाव हो ही जाता है, वैसे ही यहां भी आचार्यवंशत्वेन तो माहात्म्य है ही,

उसके अलावा पुरुषोत्तमात्मक माहात्म्य स्वयं आचार्यचरणद्वारा स्थापित किया गया है – यह आशय है. 'अशेष'पदके कारण यह भी द्योतित होता है कि वंशजोंद्वारा आत्मनिवेदनकी दीक्षा दिये जानेपर लेनेवाले पुष्टिजीवको भगवत्साक्षात्कारादि तथा स्वयंका लीलात्मक स्वरूप भी सिद्ध होगा ही. (''भुविभक्तिप्रचार...स्मयापहः''की श्रीहरिरायजीकी व्याख्या).

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक आचार्यवंशजोंमें, श्रीहरिरायजीके अनुसार, स्वयं वंशकर्ता महाप्रभुद्वारा पुरुषोत्तमत्व स्थापित किया गया होनेसे कालादिदोषवश प्रतीत होती देवद्रव्योपजीविता या देवलकता, अर्थात् बहिर्मुखता भी, दोषात्मक न होकर पुरुषोत्तमलीलात्मक ही हैं ऐसे मानना चाहिये. तब तो स्थापित पुरुषोत्तम होनेके दावेके कारण अन्य भी अनेकविध शिष्टविगर्हित कृतियां भी हमारी पुरुषोत्तमकी लीला ही माननी पड़ेगी. बात आगे बढ़नेपर कभी कोई आचार्यवंशज स्वयं आचार्यचरण–प्रभुचरण या स्वयं श्रीहरिरायचरणोंके वचनोंको प्रामाणिक न माने तो उसे भी पुरुषोत्तमलीला ही माननी पड़ेगी. तब इनके वचनोंका कोई आचार्यवंशज खण्डन करे उसे भी पुरुषोत्तमलीला माननी पड़ेगी ! ऐसी स्थितिमें स्वयं श्रीहरिरायचरणद्वारा निर्दिष्ट ''...एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेष्वन्येषु वा पुनः महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः संगनिर्णयः'' कसौटी भी आचार्यवंशजोंपर लागू होगी कि नहीं ? स्पष्ट है कि श्रीहरिरायचरणके ही दोनों वचन हैं जिनमेंसे एकको प्रमाण और अन्यको अप्रमाण तो माना नहीं जा सकता है. अतः 'व्यवस्थित विकल्प'न्यायका समाश्रयण करना पड़ेगा.

इसीका निरूपण श्रीविठ्ठलेशात्मज श्रीवल्लभजी(वदनानलदास)ने इन्हीं नामोंपर लिखी अपनी व्याख्यामें किया है. यह व्याख्या भी अभी प्रकाशित नहीं हो पाई है अतः उस अंशको अविकल उद्धृत करके ही कुछ विचार करना उपयोगी होगा:

(१) ननु वंशीयानां तथासामर्थ्याभावात् कथं तत्प्रचार इत्यतः 'स्ववंशे'इति. स्वभूतेषु (स्वभूते !) पुत्रपौत्रादिरूपवंशे स्थापितम् अशेषं ''नमामि हृदये शेषे''इति कारिकोक्तं स्वहृदयस्य अन्तरंगलीलाधारत्वेन यत् शेषत्वं तद्व्यतिरिक्तं स्वस्य उपदेशेन जनोद्धारार्थम् अवतीर्णस्य तावन्मात्रं नामदानेन जनोद्धाररूपं माहात्म्यं येन तादृश इति अर्थः. तत्र तावद् वंशस्थापनेन अन्यदापि तद्द्वारा जनान् उद्धरति गुरुस्तु स्वयमेव. (२) 'स्थापित'पदेन आगन्तुकत्वम् उक्तम्. तेन प्रयोजनसिद्धौ ''यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्''न्यायेन पृथुवत् तत् तिरोभवति इति

सूचितम्. तस्य भगवद्धर्मत्वेन अपहतपाप्मत्वात् न आधारदोषसम्बन्धः. (३) जनोद्धारार्थमेव तत्स्थापनात् स्वोद्धारार्थं तु पृथुवत् तेनापि यत्नः कर्तव्यएव. (४) उपदेशार्थमेव एतत्स्थापनात् तदनधिकारवति स्त्रीपुत्र्यादौ न तत्स्थापनम् इति ज्ञेयम्. न च 'नर'पदस्य जीवगतपुंस्त्ववाचकत्वेन तत्रापि अधिकार इति वाच्यं, कृष्णसेवा-दम्भादिराहित्य-श्रीभागवततत्त्वज्ञतान्यथानुपपत्त्यैव एतत्प्राप्तेः 'नर'पद(स्य!)म् अनर्थकत्वं स्यात्. नच पुत्रेष्वपि धर्मान्तरत्रयाभावे न अधिकारः स्याद् इति वाच्यं, ''प्राचाम् आचार्याणाम्''* इति भक्तिहंसोक्तन्यायेन तदुपपत्तेः. नच नरत्वाभावेपि तथा स्याद् इति वाच्यं, नरत्वस्य स्वरूपान्तर्गतत्वेन स्वरूपयोग्यतापादकधर्मत्वात्. अतएव तत्र स्नेहस्यैव कृष्णसेवादिधर्मकारणीभूतस्य प्राचीनगतत्वेन उपपत्तिः उक्ता नतु नरत्वस्य. अतो नरत्वं तु अपेक्षितमेव इति ज्ञेयम्. अतएव टिप्पणान्तरे(श्रीगोकुलनाथकृते)पि 'वंश'पदं पुत्रपरत्वेन व्याख्यातं नतु पुत्रीपरम् इति भावः. (५) ननु एवं सति जनोद्धारेपि वंशीयानां तु स्वस्मिन् तादृशमाहात्म्यज्ञानेन प्रत्युत गर्वरूपो दोषएव सिद्धः इत्यत आहुः 'स्मयापह' इति, गर्वनिवर्तक इति अर्थः. स्वरूपबलेनैव दोषं निवर्त्य जनानि च तान्यपि उद्धरिष्यति इति भावः. (श्रीविठ्ठलेशात्मज 'वदनानलदास' श्रीवल्लभजीकृत ''भुवि भक्तिप्रचार...स्मयापहः''की व्याख्या).

कुल मिलाकर इसमें इतनी बातें कही गई हैं: (१) महाप्रभुकी तरह उनके वंशजोंमें पुष्टिभक्तिमार्गके प्रचारोपयोगी सर्व शक्तियां नहीं हैं. ''नमामि हृदये शेषे'' कारिकामें वर्णित भगवानकी अन्तरंगलीलाका आधार बन पाये ऐसा शेषात्मक हृदय न होनेपर भी महाप्रभूपदिष्ट सिद्धान्तोंको दोहराते हुए पुष्टिजनोंके उद्धारार्थ 'कृष्ण'नामवाली अष्टाक्षरमन्त्र तथा ब्रह्मसम्बन्धमन्त्र की दीक्षा देनेके अधिकारी होनेका माहात्म्य अपने पुत्र-वंशमें महाप्रभुने स्थापित किया है. अर्थात् अपने बाद अपने वंशद्वारा भी पुष्टिजीवोंका उद्धार करनेका सामर्थ्य महाप्रभुमें होनेसे वे ही गुरु हैं (वंशज नहीं). (२) 'स्थापित'पदके प्रयोगके कारण यह माहात्म्य भी उनमें आगन्तुकधर्म है, स्वयंसिद्ध नहीं. अतः प्रदान करते समय तात्कालिक प्रकट कर बादमें तिरोहित रहता है. जैसे पृथुमें विष्णुका आवेश प्रकट होता तथा तिरोहित होता माना गया है. जनोद्धारकता धर्म आधुनिक वंशजोंका धर्म न होकर भगवद्रूप आचार्यचरणका ही धर्म होनेसे अपने आधारीभूत आधुनिक गोस्वामिओंके निजी दोषोंसे दूषित नहीं हो पाता. (जैसे अपवित्र मलिन वस्तुओंमें भी व्यापकतया रहनेपर भी सर्वव्यापी परमात्मा मलिन अपवित्र नहीं होता). (३) अतएव

आत्मोद्धारार्थ तो महाप्रभुके वंशजोंको भी महाप्रभूपदिष्ट प्रकारको अनुसरते हुए निजप्रयत्न करने ही पड़ेंगें!** (४) यह माहात्म्य केवल मन्त्रोपदेशार्थ

---

*''आधुनिकानाम् उपदेष्टृणामपि स्नेहाभावेपि तन्मूलभूतानां प्राचाम् आचार्याणां तद्वत्त्वेन तद्नुगृहीतत्वेन सर्वोपपत्तेः'' - भक्तिहंस.

**कुछ पहलवानछाप बुद्धिवाले अपठित आचार्यवंशज आजकल वैष्णवोंको बरगलाते हैं कि षोडशग्रन्थके आदेश तो सारेके सारे वैष्णवोंकेलिये ही महाप्रभुने प्रकट किये हैं, अपने वंशजोंकेलिये तो केवल शिक्षाश्लोकी है. इसमें मूल कारण यही है कि तनुवित्तजा और गृहसेवा के सिद्धान्तमुक्तावली और भक्तिवर्धिनी ही स्थापित होनेसे (अर्थात् हवेलिओंमें भटकती दर्शन-नोरथ-ठडी-ोहनथालार्थी पुष्टिमार्गीय जनताके वित्तको अपने तनरूपी मोरी = 'कन्ड्यूईट पाईप'द्वारा पुष्टिप्रभु तक पहुंचानेको निजवंशमें माहात्म्यस्थापन नहीं किया गया है) मन्त्रोपदेशका जिन्हें अधिकार नहीं ऐसी महाप्रभुके वंशकी पुत्रिओं तथा पत्निओं में वह माहात्म्य नहीं होता. अतएव गुरुके लक्षणमें 'नर'पदका प्रयोग किया गया है. वंशज पुत्रिओंमें गुरुत्वलक्षणघटक कृष्णसेवापरता दम्भादिरहितता भागवततत्त्वज्ञता हो परन्तु नरत्व न हो तथा वंशज पुत्रोंमें गुरुत्वलक्षणघटक नरत्व हो परन्तु कृष्णसेवापरता दम्भादिरहितता भागवततत्त्वज्ञता न हो - इन दोनों स्थितिओंमें वास्तविक गुरु तो महाप्रभु ही निजस्वरूपबलसे बनते हैं.ऐसी स्थितिमें पुत्री या पत्नी में दीक्षादानका अधिकार जो मान्य नहीं किया गया है, उसमें हेतु यही है कि महाप्रभूपदिष्ट गुरुलक्षणान्तर्गत 'नरं'पदके साथ प्रभुचरणनिर्दिष्ट ''भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत् स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः''पदावली पुष्टिमार्गीय गुरुकी स्वरूपयोग्यताके निरूपणार्थ है. (अर्थात् फलमुखयोग्यता तो कृष्णसेवापरता दम्भादिरहितता भागवततत्त्वज्ञता के कारण ही आती है). अन्यथा फलमुखयोग्यताके निरूपणमें 'नरं'पदका प्रयोग निष्प्रयोजन ही सिद्ध होगा. (५) वंशज पुत्रोंमें भी अपने उस स्थापित माहात्म्यके कारण, यदि गर्व-''हम पुष्टिजीवोंके उद्धारक हैं''ऐसा पैदा होता हो तो, यह उन्हें समझ लेना चाहिये कि यदि वे श्रीभागततत्त्वज्ञ दम्भादिरहित कृष्णसेवापरायण भी हों तब भी पुष्टिजीवको ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान कर पुष्टिप्रभुके पुष्टिमार्गीय भजन करने योग्य बनानेका उनका माहात्म्य स्वयंसिद्ध न होकर महाप्रभुद्वारा स्थापित ही है. अतः जब वंशज भागवततत्त्वज्ञ न हों, या कृष्णसेवापरायण न हों, या दम्भादिरहित न हों तब साधारण पुष्टिजीवोंके जैसे इन

निजवंशजोंके भी दोषोंको स्वरूपबलसे निवृत्त करनेका सामर्थ्य स्मयापहर्ता स्वयं महाप्रभुका ही है. अतएव गुरुलक्षणके बाद महाप्रभुने ''तदभावे स्वयं वापि...परिचर्यां सदा कुर्याद्'' (त.दी.नि. सर्वनि. २२८) उपदेश दिया है.

इस तरह श्रीवल्लभजीकी व्याख्याके सविवरण भावानुवादके पांचों अंशोंको हृद्गत करनेपर यह सिद्ध होता है कि श्रीहरिरायजीद्वारा वर्णित पुरुषोत्तमता स्वरूपयोग्यताके निरूपणार्थ ही है, फलमुखयोग्यताके निरूपणार्थ नहीं. जैसे शालिग्राममें नित्य भगवत्सन्निधान होनेके बावजूद पुष्टिभक्तद्वारा सेवित होनेपर ही पुष्टिपुरुषोत्तमता प्रकट होती है – ऐसा श्रीहरिरायजीने स्वीकारा है, ठीक

में उपदिष्ट नियम गोस्वामिओंपर कहीं लागू न हो जायें! परन्तु यही बात भी यदि सच मानकर चलें तो सिद्ध हो जाता है कि महाप्रभुको वैष्णवोंके बहिर्मुख होनेकी आशंका नहीं थी अतः केवल भक्तिमार्गीय कर्तव्योंका उपदेश उन्हें दिया तथा वंशजोंके बहिर्मुख होनेकी प्रबल सम्भावनाओंका विचार कर शिक्षाश्लोकीका उपदेश किया होना चाहिये.

उसी तरह श्रीभागवततत्त्वज्ञता कृष्णसेवापरायणता दम्भादिरहितता गुण आचार्यवंशजोंमें हों तभी ऐसे वंशजोंका संग फलमुख साधुसंग हो सकता है. अन्यथा स्वयं बुद्धके जैसे साक्षात् भगवदवतार होनेपर भी उनके नास्तिक्यपूर्ण उपदेशोंके ग्रहणार्थ उनका संग साधुसंग न होकर दोषपूर्ण संग माना गया है, वैसे ही महाप्रभुके इन वंशजोंकी पुरुषोत्तमताकी गति भी समझनी चाहिये. यह बात स्वयं श्रीहरिरायजीके (ग) तथा (ङ) भागोंमें संकलित वचनोंके आधारपर स्पष्ट हो जाती है.विशेषतः, ''तदभावे तथाभूतोपदेशोऽत्र नियामकः अथाधुनिकतीर्थानामतथाभूततोपि हि''-''अदम्भः सर्वथापेक्षारहितः करुणापरः'' -''महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः संगनिर्णयः''शब्दावलीके निगूढ़ भावोंका अवगाहन करनेपर भी यह स्पष्ट हो जाता है.

अतएव लेखकार श्रीविठ्ठलेशात्मज श्रीवल्लभजीकी भी अप्रकाशित सर्वोत्तमस्तोत्रकी व्याख्यामेंसे इन नामोंकी व्याख्याके अंश भी यहां मननार्थ हम उद्धृत करना चाहेंगें:

मूलः 'भुवि' इति. नित्यलीलायां तु स्वस्य आस्यरूपत्वेन स्वदर्शनबलाद् वाक्यवेणुनादादिभिः भक्तानां भक्तिः भवति. भुवि तु तदभावाद् अन्वयेनैव सा भवतीति तदैकप्रचारार्थम् अन्वयकर्ता नतु लोकवद्, अलौकिकत्वात्.

...'अन्वय'पदेन स्वपुत्रद्वारापि परम्परया वंशजननेच्छा सूचिता. वंशो द्विविधो – विद्यया जन्मना च. तत्र विद्यया शिष्यरूपो जन्मना पुत्ररूपः. तत्र विद्यावंशे तु आरोपितसामर्थ्येन सर्वोद्धारः तथा भवेद् इति तदर्थम् आहुः 'पिता' इति. स्वजनक इति अर्थः. एतेन स्वस्य भुवि भक्तिप्रचारकर्तृत्वम् उक्तम्. तेन साक्षात्पुष्टिसम्बन्धस्तु साक्षाद्वंशेनैव भवति; शरणसम्बन्धस्तु अपरेणापि भवति इति सूचितम्. अतएव पुरुषोत्तमदासादीनां शरणदानाज्ञा. ननु साक्षाद्वंशेपि तद् आरोपितं भवेद् इति आशंक्य आहुः 'स्ववंशे...' इति. 'स्व'पदेन पुत्ररूप वंश उच्यते, तत्रैव अशेषमाहात्म्यं स्थापितम्. 'स्व'पदेन साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धि निरूपितम्. तेन अशेषमाहात्म्यं श्रीअग्निकुमारेष्वेव शेषं तु सर्वत्रैव इति सूचितम्. यद्वा अशेषमाहात्म्यं सर्वत्रापि अन्यथा तद्द्वारा पुष्टिभक्तिप्रचारो न स्यात्, कालस्य बाधकत्वात्. तस्मिन् स्थापिते तस्य अबाधकत्वम्. यद्वा ''दीपाद् दीप'' इति न्यायेन स्वस्मिन् सिद्धमेव अशेषमाहात्म्यं, स्थापनं तु स्वातिरिक्तेष्वेवेति 'स्थापितम्' इति उक्तम् . . . यद्वा स्मयो = गर्वो ''वयमेव जगदुद्धारका'' इति; तस्य तथा. स्वमाहात्म्यस्थापनादेव तथात्वं न स्वतः इति. (लेखकार श्रीवल्लभजीकृत ''भुवि भक्तिप्रचार...स्मयापहः''की व्याख्या).

भावानुवादः वंशस्थापनाकी आवश्यकता भूतलपर है, क्योंकि नित्यलीलामें तो मुखारविन्दरूप होनेसे महाप्रभु अपने दर्शन-वचन-वेणुवादनादि द्वारा भक्तिभावको पोषित करते ही हैं. भूतलपर उस रूपमें अवस्थित न होनेके कारण ही वंशद्वारा भी भक्तिका प्रचार करते हैं. स्वयं अलौकिक होनेके कारण केवल उसी प्रयोजनसे आपने वंशस्थापना की है-किसी लौकिक प्रयोजनकी पूर्तिकेलिये नहीं. 'अन्वय'पदके प्रयोगसे यह भी सूचित होता है कि अपने पुत्रके वंशद्वारा भी आगे भक्तिके प्रचारका कार्य चलता रहे. वंश दो तरहसे चलता है- एक विद्यासे दूसरा जन्मसे. विद्यावंशमें शिष्य प्रकट होते हैं, जन्मवंशमें पुत्र. विद्यावंशमें प्रकट हुए शिष्यमें गुरु अपने सामर्थ्यका आरोपण करता है ताकि शिष्य भी सर्वोद्धारक बन पाये. ऐसा परन्तु महाप्रभुने पुष्टिमार्गमें करना चाहा नहीं इसलिये प्रभुचरणने 'भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्' नामके साथ 'पिता'नाम भी जोड़ा है. अर्थात् महाप्रभु स्वयंके जनकपिता हैं. इससे सिद्ध होता है कि प्रभुचरणका प्राकट्य

भी भक्तिप्रचारार्थ ही है. साक्षात्पुष्टिसम्बन्ध साक्षाज्जात पुत्रवंशसे होता है तथा शरणसम्बन्ध विद्यावंशसे भी. अतएव पुरुषोत्तमदासजी आदि वैष्णवोंको शरणमन्त्रकी दीक्षा प्रदान करनेकी आज्ञा दी गई थी. साक्षात्पुत्रवंशमें निजसामर्थ्यको आरोपित क्यों नहीं माना जाता? इसलिये कि साक्षात्पुत्रवंशमें आपने अपना पुरुषोत्तमसम्बन्धी अशेषमाहात्म्य स्थापित किया है. प्रभुचरणमें ही पुरुषोत्तमसम्बन्धी यह अशेषमाहात्म्य स्थापित किया है, अन्यत्र तो शेषमाहात्म्य ही स्थापित किया गया है. अथवा सर्वत्र अशेषमाहात्म्यकी स्थापना महाप्रभुने की है – ऐसा भी स्वीकारा जा सकता है. क्योंकि महाप्रभुके अशेषमाहात्म्यके स्थापित हुए बिना कोई पुष्टिभक्तिका प्रचार कर नहीं पायेगा. क्योंकि कलिकालके बलवान होनेके कारण (वंशज भी तनुवित्तजा सेवाकी जगह आजीविकोपार्जन और भावसंगोपनके उपयोगी निजगृहकी जगह भावप्रदर्शनकी दुकान ही चला पायेंगे अतः) भक्तिमार्गके प्रचारमें बाधा उपस्थित हो ही जायेगी. अथवा दीपसे जुड़ते दीपकी तरह प्रभुचरणमें तो अशेषमाहात्म्य स्वयंसिद्ध है परन्तु अन्यत्र वह स्थापित हो तभी सम्भव है . . . ''हम जगतके उद्धारक हैं (जिस मोहसे पनपी भ्रान्तिके वश आज पुष्टिजीवैकधर्मको 'विश्वधर्म'के रूपमें प्रचारित किया जा रहा है)'' – ऐसा घमंड महाप्रभुने दूर कर दिया है. क्योंकि महाप्रभुसे अतिरिक्त सभी पुष्टिभक्तिमार्गके प्रचारकोंमें वह माहात्म्य स्वयंसिद्ध न होकर स्थापित हो तब ही हो सकता है अन्यथा नहीं.

इससे भी यही सिद्ध होता है कि केवल महाप्रभुके वंशमें जन्म लेनेसे ठाकुरजीको उद्देश्य करके पराये लोगों, अर्थात् दर्शनार्थी जनों, द्वारा धरी गई भेंट-सामग्रीपर गुरुत्वके बलपर स्वच्छन्दतया पूर्ण स्वत्व स्थापित नहीं हो सकता. वह तो देवद्रव्य रहेगा ही कि जिसके उपभोग करनेपर महाप्रभु भी अपना वंशज माननेसे भी इन्कार कर देंगें – ''मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो.'' इससे बड़ा कलंक या लांछन भक्तिप्रचारार्थ प्रकट किये गये वंशपर और क्या लग सकता है!

उल्लेखनीय है कि विमर्शकार भी स्वमुखसे यह तो स्वीकारते ही हैं कि ''परन्तु ठाकुरजीको उपायनके रूपमें निवेदित वस्तुको ठाकुरजीकी आज्ञाके बिना (इन शब्दोंपर ध्यान देना आवश्यक है – गो.श्या.म.) उपायनकर्ता ग्रहण नहीं कर

सकता.'' (विमर्श पृ.१९). तब प्रश्न उठता है कि क्यों नहीं स्वीकार सकता? इसका उत्तर विमर्शकारने यूं दिया है – ''इन दोनों उपायनोंमें ठाकुरजीका ही पूर्ण स्वत्व होता है अतः उपायनकर्ता पुनः प्रसादरूपमें ग्रहण नहीं करते.'' (विमर्श पृ.१८). बावजूद इस स्वीकृतिके ''गुरुका ही पूर्ण स्वत्व आनेसे देवद्रव्यके भक्षणका दोष सर्वथा आता नहीं. यहां यह ध्यातव्य है कि उपर्युक्त विचार गुरुघरके ठाकुरजीकी सेवामें विनियुक्त करने हेतु आनेवाले द्रव्यसे सम्बन्धित है.'' (विमर्श पृ.१६) तथा ''श्रीमहाप्रभुजीने इस द्रव्यका स्वीकार नहीं किया अतः उसमें देवद्रव्यत्व है. महाप्रभुजीद्वारा उस द्रव्यका स्वीकार किये जानेपर उसका देवद्रव्यत्व नष्ट होता...'' (विमर्श पृ.२२) – ऐसे विचित्र विधान और कर दिये हैं.

ठाकुरजीकी आज्ञाके बिना, स्वप्रदत्त या परप्रदत्त, जिस द्रव्यपर ठाकुरजीका स्वत्व हो उसे अपनी स्वच्छन्द इच्छाके आधारपर कोई भी गुरु या शिष्य स्वोपभोगार्ह पूर्ण स्वत्व कैसे मान सकता है? अन्यथा मान लीजिये (वैसे आधुनिक धनलोलुप हम गोस्वामिओंसे तो यह शक्य ही नहीं फिर भी केवल विचारार्थ ही हम युक्ति दे रहे हैं): किसी वैष्णव ब्राह्मणके घर बिराजते ठाकुरजीको किसी गोस्वामी गुरुने बेशकीमती हीरेका हार भेंट धरा हो या सोनेकी कटोरी भेंट धरी हो तो क्या उस वैष्णवको वह भेंट स्वीकार लेनी हो तो वह देवद्रव्य नहीं रह जायेगा? अर्थात् न स्वीकारनेपर ही क्या देवद्रव्य बनेगा?

जिसे उद्देश्य करके कुछ दिया जाता है उसके स्वीकार या अस्वीकार को ही स्वत्वनिर्धारणमें उपयोगी माना जा सकता है, अन्यके नहीं. उदाहरणतया प्रभुचरणद्वारा श्रीबालकृष्णलालजीको पधरानेकी इच्छा प्रकट करनेके बावजूद श्रीयदुनाथजीने उन्हें स्वीकारे नहीं थे, अतः उनका पूर्ण स्वत्व स्थापित न हो पाया.फलतः''दाने हि न स्वविनियोगः''नियमके अधीन स्वयं प्रभुचरण या उनकी गादीपर बिराजनेवाले श्रीगिरिधरजीके वंशज न भी ले सकते हों, एतावता तृतीयात्मज श्रीबालकृष्णजीके घरमें उनके अपने पूर्ण स्वत्वके कारण एकबार वहां बिराजते ही तीसरे घरके बालक पूर्ण स्वत्वके दावेके साथ क्यों नहीं ले सकते? तृतीय लालजीके तथा उनके वंशजोंके स्वीकार लेनेपर प्रभुचरणनिधि श्रीबालकृष्णलाल ठाकुरजीपरसे श्रीयदुनाथजीकी स्वत्वनिवृत्ति क्या विमर्शकारको मान्य होगी? हो तो फिर बावेला ही किस बातका मचाया जा रहा है! क्योंकि श्रीबालकृष्णलाल

ठाकुरजीके दानकर्ता प्रभुचरण पुनः नहीं ले सकते एतावता तृतीय लालजी या उनके वंशज नहीं पचा सकते ऐसा तो फिर कहा नहीं जा सकेगा !

अतएव नवरत्नप्रकाशमें ''दाने हि न स्वविनियोगः न तु निवेदने''के बजाय ''दाने हि न विनियोगः'' पाठ क्यों नहीं दिया ? – ऐसा प्रश्नाडम्बर विमर्शकारने किया है (विमर्श पृ.१५७). साथ ही साथ हास्यास्पद अपसिद्धान्त एक यह भी स्थापित किया है कि ''पुष्टिमार्गमें 'तुभ्यमहं सम्प्रददे न मम' कहकर दान होता नहीं अतः प्रसादी वस्तुके ग्रहणमें दोष नहीं.'' (विमर्श पृ.२७) जब दान होता ही नहीं तो न तो निषेधकी आवश्यकता थी और न स्वविनियोगके निषेधकी या परविनियोगकी अनुमति की भी.

''तुभ्यमहं सम्प्रददे न मम'' यह कहकर जैसे दान नहीं देती, वैसे ही दर्शनार्थी जनता ''गुर्वाराध्याय भगवत्स्वरूपाय निवेदयामि–समर्पयामि इदं न मम'' कहकर समर्पण भी कहां करती है ? फिर उसपर गुरुका पूर्ण स्वत्व कैसे प्रकट हो जाता है, समर्पणकर्ताके बोले बिना ? देवद्रव्योपजीविताकी वृत्तिकी वकालत करनेको जिस सैद्धान्तिकी वास्तविकताको विमर्शकार यहां छिपा रहे हैं, वह यह है कि प्रभुचरणने ''तदीयार्थस्य तदिच्छां विना ग्रहीतुम् अशक्यत्वात् इच्छायाश्च ज्ञातुम् अशक्यत्वात्. वस्तुतस्तु इच्छायामपि सत्यां तदुपयोगो अनुचितः सेवकस्य'' (नव.प्रका. १) आक्षेपके सन्दर्भमें यह दान और निवेदनका पार्थक्य बताया है. अतः उपायनीकृत द्रव्य या सामग्री का स्वोपभोग साक्षाद् भगवदाज्ञाके बिना अधर्म्य देवद्रव्योपजीवन होता है – यही यहां विवक्षित है. क्योंकि 'स्वविनियोग' या 'भगवद्विनियोग'के विकल्प ही यहां सन्दर्भोपात्त हैं; दानकर्ता या दानानुमन्ता यहां 'स्व'पद या 'पर'पद से विवक्षित नहीं हैं. निवेदनमें देवस्व ही उत्पन्न नहीं किया जाता होनेसे स्वविनियोग अनुमत ही है और उचिततर भी है. इसमें 'न तु निवेदने' अंशको छोड़कर विमर्शकारद्वारा दान–निवेदनके पार्थक्यको भुलाकर व्याख्यान करना जननेत्रोंमें धूलिप्रक्षेपणकी उनकी मनोवृत्तिको उजागर करता है ! अतः सिद्ध होता है – भगवद्वंशजात होनेपर भी वृत्त्यर्थ भगवदाराधना देवोद्दिष्ट या देवाराधनार्थोद्दिष्ट परद्रव्यके दानसे निर्वाह्य होनेके कारण विगर्ह्य ही होती है. भक्त्यर्थ भगवत्सेवामें तनुवित्तजाका ऐक्य रहता ही है तथा वृत्त्यर्थ भगवत्सेवामें तो तनुजा और वित्तजा का पार्थक्य करना ही पड़ेगा. और इसकेलिये महाप्रभुने यदि वंशस्थापन किया होता तो ''भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्'' उनका नाम नहीं रह जायेगा ! निजाचार्यचरणके नामको ''भुवि आजीविकालाभकृते

स्वान्वयकृत्'' रूपमें बिगाड़नेकी ही वह तो बात होगी. प्राचीन श्रीवल्लभोंके बारेमें तो निजाचार्यके नामको बिगाड़नेकी बात स्वप्नमें भी नहीं सोची जा सकती थी. आधुनिक श्रीवल्लभोंकी तो कथा कुछ और ही है !

(ख)

इस विभागमें प्रस्तुत वचन श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणका है, जो साधनदीपिकासे उद्धृत किया गया है. उन्होंने उन मौलिक हेतुओंको शृंखलाबद्ध किया है जिनके वश महाप्रभूपदिष्ट ''कृष्णसेवापर–दम्भादिरहित–श्रीभागवततत्त्वज्ञ–नर'' लक्षणयुक्त गुरु आवश्यक बनता है. भक्तिको महाप्रभुने पंचमपुरुषार्थतया मान्य किया है अतएव 'सेवाफलविवरण'ग्रन्थमें 'सेवाके तीन फल' कहनेके बजाय 'सेवा करते समय तीनमेंसे किसी एक तरहका फल होता है' यही कहा है: ''सेवायां फलत्रयं''द्वारा. सेवाकी इसी फलावस्थाका निरूपण ''मानसी सा परा मता'' (सि.मु.) वचनद्वारा किया गया है. यह वही अवस्था है जिसे 'भक्तिवर्धिनी'ग्रन्थमें ''यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि'' वचनद्वारा भक्तिकी व्यसनावस्थाके रूपमें भी वर्णित किया गया है.

इन सभी वचनोंका कुल निष्कर्ष यही है कि पुष्टिमार्गमें भक्त या भक्त्यर्थी ही भगवत्सेवाके अधिकारी हैं. क्योंकि लोकार्थी भी या तो भगवत्सेवाके कारण क्लेश ही पाते हैं या फिर उनके लोक ही नष्ट हो जाते हैं – यह भी सिद्धान्तमुक्तावलीमें निरूपित किया गया है. वृत्त्यर्थीके द्वारा की गई तो भगवत्सेवा भी नवधा भक्तिकी ही तरह केवल लौकिक व्यापार ही नहीं प्रत्युत पापकर्म ही है – यह भी भक्तिहंसके अवगाहनसे सुस्पष्ट हो जाता है. वह भक्ति ''माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह''के रूपमें परिभाषित हुई है. तदनुसार सर्वप्रथम माहात्म्यज्ञानकेलिये यह आवश्यक है कि पुष्टिजीव लौकिक अर्थ पुरुषार्थ एवं कामपुरुषार्थोंके विषय लौकिक धन एवं रसरूपादि विषयोंके मोहसे छूटकर उनसे अतीत ऐसे पुरुषोत्तमके बारेमें कुछ जान पाये, पश्चात् शास्त्रोंद्वारा विहित धर्मपुरुषार्थरूप कर्मज्ञानोपासनाके उपायोंसे प्राप्य स्वर्गादि चतुर्विध मोक्षान्तपुरुषार्थरूप फल या उनके प्रापकोंकी तुलनामें पुरुषोत्तमभक्तिकी उत्तमताको पहचान पाये. एतदर्थ पुरुषोत्तमके दिव्य गुण एवं दिव्य लीलाओं का ज्ञान अपेक्षित होता है. वह मिलता है श्रुतिगीताभागवतादि शास्त्रोंके श्रवणसे, वह श्रवण गुरुमुखसे करना चाहिये. तदर्थ गुरुकी अपेक्षा दिखलाई गई है.

उस पुष्टिमार्गीय गुरुके स्वरूपलक्षणतया तो हमने देखा कि महाप्रभुद्वारा श्रीकृष्णको निवेदित उनके निजवंशमें पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि परम्परामें आते 'नरं'पदबोधित पुरुष हैं.इनमें पुष्टिजीवोंको पुष्टिप्रभुसे मिलानेकी स्वयंसिद्ध सामर्थ्य न भी हो परन्तु ब्रह्मसम्बन्धदीक्षाप्रदानकालमें उस सामर्थ्यकी तावन्मात्रकालिकी अभिव्यक्ति होती है. जैसे साधारण आर्थिक स्थितिवाला बेंकका कर्मचारी भी बड़ी-बड़ी लॉन, बेंकव्यवस्थाद्वारा अधिकृत होनेपर, दे सकता है. फिर भी फलमुख लक्षण तो महाप्रभुने ''कृष्णसेवापरत्वे सति दम्भादिरहितत्वे सति भागवततत्त्वज्ञत्वम्'' ही सूचित किया है.

इस लक्षणका पदकृत्य समझाते हुए महाप्रभुने कई बातोंका स्पष्टीकरण दिया है. यथा- जिस गुरुकेलिये सेवाका उपदेश करना कर्तव्य हो (महाप्रभुने कल्पना भी नहीं की है कि उनके मार्गमें गुरु सेवाके उपदेश देनेकी जगह वृत्त्यर्थ प्रदर्शन करने लग जायेंगें) वह स्वयं उसे उत्तम कर्तव्य मानता हो तो स्वयं क्यों नहीं करेगा? इसलिये गुरुके लक्षणमें कृष्णसेवापरायण होना सबसे पहली शर्त है. दूसरी शर्त, महाप्रभुके अनुसार, यह है कि वह कृष्णसेवा किसी निमित्त (जैसे कि विमर्शकारने ४५ तथा १६४-१६५ पृष्ठोंपर ऐश्वर्यार्थ, शरीर-परिवारके रक्षण-पोषणार्थ, वृत्त्यर्थ आदि अनेक निमित्त भगवत्सेवाके धर्म्य माने हैं - गो.श्या.म.)के वश नहीं करनी चाहिये. अन्यथा वह दम्भ बन जायेगी. तदर्थ दम्भादिरहित होना भी आवश्यक बताया है. यहां 'दम्भादि'में 'आदि'पदके अर्थतया श्रीपुरुषोत्तमजीने काम लोभ और गाममें पूजनेकी लालसा को गिनाया है. इनका क्रमशः विमर्शकारद्वारा दिये गये निमित्तोंसे समीकरण जान लेना भी आवश्यक है: ऐश्वर्यार्थ भगवत्सेवा लोभसहित होती है. शरीर-परिवारके रक्षणपोषणार्थ भगवत्सेवा कामसहित भगवत्सेवा है. वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाको सेव्यसुखजननके बहाने बनाकर अथवा भक्तजनोंके उद्धारार्थ प्रदर्शनोंके बहाने बनाकर करना गाममें पूजनेकी मनोवृत्तिसे किया जानेवाला दम्भ ही समझना चाहिये.

प्रसंगोपात्त विमर्शकारने जो विकल्प उत्थापित किये हैं उनका भी विचार कर लेना चाहिये:''लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्व-देवलकत्वादिसम्पादकत्वात् तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धप्रकारेण 'ऐहिकं मे भवतु' इति अनुसन्धाय प्रवृत्तो लोकार्थी'' - इस वाक्यमें 'अनिषिद्धप्रकार'शब्दसे 'विवक्षित भक्तिमार्गानुसार अनिषिद्धप्रकार' या 'धर्मशास्त्रानुसार अनिषिद्धप्रकार' यों इन दोनोंमेंसे कौन सा अर्थ श्रीपुरुषोत्तमजीको अभिप्रेत है? (विमर्श पृ.१६३). इस विकल्प- प्रश्नका देवलक बालकोंके

मनोरंजनार्थ विमर्शकारने क्रोडाक्रीडनक- उत्तर यों प्रस्तुत किया है: 'विवक्षित भक्तिमार्गानुसार अनिषिद्धप्रकार' यदि अभिप्रेत हो तो ''ऐहिकं मे भवतु इति अनुसन्धाय प्रवृत्तो लोकार्थी'' यह आगेका अंश असंगत होगा. क्योंकि ऐहिक फलप्राप्तिकेलिये भगवत्सेवा विवक्षितभक्तिमार्गमें निषिद्ध है. अतः धर्मशास्त्रानुसार अनिषिद्धप्रकार ही श्रीपुरुषोत्तमजीका अभिप्रेत अर्थ है.

नितान्त बचकानी क्रोडाक्रीडनकक्रीडा करते हुए विमर्शकार यह भी कहते हैं- धर्मशास्त्रके मतानुसार केवल लाभ या केवल पूजाकेलिये ही की जानेवाली भगवत्सेवा उपधर्म पाखण्ड होती है. अर्थात् श्रद्धारहित केवल धन कमानेकेलिये अथवा केवल प्रतिष्ठाकेलिये की जाती भगवत्सेवा उपधर्म पाखण्ड होती है. अंशतः भी भक्ति और श्रद्धाके साथ की जाती वृत्त्यर्थ या प्रतिष्ठार्थ भी भगवत्सेवा धर्मशास्त्रानुसार निषिद्ध न होनेसे धर्म्य ही है (विमर्श पृ. १६३-१६८).

हम देख चुके हैं कि वृत्तिका धर्मतया प्रदर्शन तथा धर्मका वृत्त्युपार्जनार्थ अनुष्ठान विवक्षित भक्तिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र दोनोंके अनुसार निषिद्ध दम्भ ही है. अतः सर्वप्रथम तो यह विकल्पप्रश्न ही अनवसरपराहत होनेसे निज अज्ञानका प्रदर्शन है. दूसरे स्वयं विमर्शकारद्वारा उद्धृत ''तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये'' वचन स्वयं विवक्षित भक्तिमार्गीय वचन है. इसके आधारपर ऐहिकफलकेलिये भगवत्सेवा जब निषिद्ध ही है तब धर्मशास्त्र तक दौड़ लगानेकी आवश्यकता क्या? क्योंकि धर्मशास्त्रमें अनिषिद्ध होनेपर भी भक्तिशास्त्रमें निषिद्ध हो तो वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाकी हेयकोटिमें ही गणना करनी चाहिये. जिस लोकार्थीको अनिषिद्ध प्रकारसे भगवत्सेवा करनेवाला कहा गया है उसकी व्याख्या करनेको धर्मशास्त्र तक दौड़ लगानी ही हो तो लगा लो! लौटकर फिर महाप्रभुसे उस दौड़का परिणाम भी सुन लो:''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा!''

यह क्या बाललीला हुई है वह तो श्रीबालकृष्णलाल ही जानें! विवक्षित भक्तिशास्त्रमें भक्तिहंसगत वचनके विचारमें लोकार्थी और वृत्त्यर्थी का भेद हम तो समझा ही चुके हैं. वहां यह कहा ही गया है कि शास्त्रविहित होनेसे लोकार्थीकी भक्ति पुष्टिमार्गीय न होकर कर्ममार्गीय या मर्यादामार्गीय होती है. अतएव ''एवं सति भक्तिमार्गीयभजनप्रकारेषु स्नेहएव नियामकः स्नेहवतां, कर्मणि विधिवत्. तद्रहितानां तु तद्वत्कृत उपदेशएव. स च वेदाविरुद्धएवेति ज्ञेयम्'' (भक्तिहंस) यह वचन भी अनुसन्धेय है ही. इस विशोधनिकाके उपक्रममें भी

सर्वनिर्णयनिबन्धके प्रकाश(१९३-१९६)गत ''स्वतःपुरुषार्थतया अनुष्ठिता सेवा हि स्वतन्त्रभक्तिरूपा'' होती है - इस वचनके भी आधारपर वृत्त्यर्थ या प्रतिष्ठार्थ अनुष्ठित भगवत्सेवा यत्किञ्चित् भक्ति या श्रद्धा के सहित होनेपर भी स्वतन्त्र पुष्टिभक्ति नहीं रह जाती. इसी तरह सर्वथा भक्तिरहित भी सेवाका अनुष्ठान, यदि वृत्त्यर्थ या प्रतिष्ठार्थ न किया जाता हो तो, स्नेहमार्गीय आचार्योपदेशानुसारी होनेपर प्रभुचरणने उसे अभिनन्दनीय ही माना है. क्योंकि आचार्योपदेशानुसारी स्वतःपुरुषार्थरूप अवृत्त्यर्थ- अप्रतिष्ठार्थ केवल भक्त्यर्थ की जाती भगवत्सेवा ही भक्तिमार्गीय होती है, प्रभुचरणके अनुसार.

अतएव श्रीकल्याणरायजीने गुरुपदयोग्यताकी तीसरी शर्त 'श्रीभागवततत्त्वज्ञं'की उत्थानिकागत ''सेवा च प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथाकरणे न फलसिद्धिः''* इस पंक्तिमें 'प्रमाण'का अर्थ भगवानके वचन अथवा सत्यरूप भगवान जिस सेवामें मूल हों परन्तु धर्म अर्थ काम या मोक्ष नहीं - ऐसे किया है (तब कहाड़ीभेंटकी आजीविका या पीठाधीशत्वप्रतिष्ठा का तो प्रश्न ही यहां नहीं उठ सकता ! - गो.श्या.म.). वह सेवा स्वतः पुरुषार्थतया अथवा केवल भगवदर्थ ही होनी चाहिये - यह खुलासा भी दिया गया है.

''कृष्णसेवापरं वीक्ष्य'' वचनांशमें 'वीक्ष्य'पदका अभिप्राय दिखलाते हुए श्रीपुरुषोत्तमजीने पुष्टिमार्गकी अन्य मार्गोंसे यही विलक्षणता प्रतिपादित की है कि इस मार्गमें गुरुकी परीक्षा सबसे पहले अच्छी तरह कर लेनी आवश्यक मानी गई है. अन्यथा गुरुपदका दावेदार कृष्णसेवापरायण या दम्भादिरहित या श्रीभागवततत्त्वज्ञ अथवा नर (महाप्रभुवंशोद्भूत पुत्रसंतति) न होकर दुनियाके चक्करमें फंसा कोई अन्धा पशु भी तो हो सकता है.इसे स्वयं अन्धे होकर गुरु बना लेनेपर गुरु और शिष्य दोनोंका अधःपात ध्रुवनिश्चित हो जाता है. श्रीपुरुषोत्तमजीने यह भी खुलासा दिया है कि ''तेन ब्रह्मसम्बन्धोपि फलमुखः तस्यैव सिद्ध्यति. एवं अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तितः.'' (त.दी.नि. सर्वनि. प्रका. आव.भं. २२७). अर्थात् ऐसे अधिकारी गुरुसे ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेनेपर ही ब्रह्मसम्बन्ध फलदायक होता है. क्योंकि ब्रह्मसम्बन्ध देनेका अधिकार जैसे लक्षणवाले पुरुषका स्वीकारा गया है वैसे लक्षणवालेसे भिन्न सभी अनधिकारी होते हैं. अतः ऐसोंसे ब्रह्मसम्बन्ध लेना ही नहीं चाहिये. इससे सिद्ध हुआ कि वृत्त्यर्थ या प्रतिष्ठार्थ

भगवत्सेवा करनेवाले इस पुष्टिमार्गमें ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा प्रदान करनेके अधिकारी नहीं होते.

उल्लेखनीय है कि इस सन्दर्भमें महाप्रभुने ''कृष्णभक्तिपरं वीक्ष्य'' न कहकर ''दम्भादिरहितं कृष्णसेवापरं वीक्ष्य'' कहना पसन्द किया है. इससे

---

*अर्थात् प्रमाणमूला भगवत्सेवा पुरुषार्थरूपा होती है क्योंकि मनमें कुछ (वृत्त्यर्थ ऐश्वर्यार्थ या प्रतिष्ठार्थ करनेके) भावोंको रखकर बाहरसे (सेव्यसुखजनिका सेवाके भावके दिखावे या जगतके उद्धार करनेके उदात्त भावके दिखावे का) अन्यथाकरण फलसाधक नहीं होता.

भी यही सिद्ध होता है कि भक्त होनेके कारण अथवा भक्त्यर्थी होनेके कारण जो कृष्णसेवापरायण होता है वही गुरु बन सकता है. वृत्त्यर्थी या प्रतिष्ठार्थी कृष्णसेवापरायण हो तब भी गुरु नहीं बन सकता. ऐसा गुरु कभी वृत्त्यर्थ या पीठाधीशत्वादि-प्रतिष्ठार्थ अपनी भगवत्सेवाके प्रदर्शनतया छप्पनभोगादिके मनोरथ करेगा ही नहीं. अतएव ऐसा ही गुरु अपने शुद्ध शुद्ध उपदेशसे, श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणके अनुसार, कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यदम्भादिकी उत्ताल तरंगोंके थपेड़े खाकर भवसागरमें डूबने जा रहे पुष्टिजीवको उबारकर पुष्टिप्रभु तक पहुंचा पायेगा.

(ग)

इस विभागके वचनोंमें श्रीहरिरायचरणने भी भक्त अथवा भक्त्यर्थी दोनोंका संग्राहक 'भक्तिमार्गीय'पद प्रयुक्त किया है. इतनी बड़ी जबरदस्त छूट देनेके बावजूद निरतिशय दयालुता प्रकट करते हुए श्रीहरिरायचरण कहते हैं कि इतना भी कोई पुरुष जब अपने आपको गुरुपदके लायक बना न पाता हो तब भी वह कमसे कम उपदेश तो श्रीमहाप्रभुके सिद्धान्तके अनुसार सच्चा सच्चा कर ही सकता है. ऐसेसे भी ब्रह्मसम्बन्ध लिया जा सकता है. उदाहरणतया स्वयं सर्दी-ज़ुकामका रोगी चिकित्सक भी सच्ची औषधि यदि चिकित्सार्थीको देता है तो चिकित्सार्थी स्वस्थ हो सकता है. रोगी चिकित्सक, परन्तु, अपने पास निदान-चिकित्साकेलिये आनेवाले रोगीको स्वास्थ्यकारी औषधि देनेके बजाय व्यर्थकी गोलियां या मिक्स्चर केवल वृत्त्यर्थ ही देता रहता हो तो रोगनिवारणके बजाय द्रव्यनिवारण या प्राणनिवारण ही अधिक सम्भव परिणाम लगते हैं ! इस अवृत्त्यर्थिता अर्थात् अदम्भ पर भार प्रत्येक सोपानपर अपेक्षित है. नामतः - भगवन्माहात्म्यका उपदेश, भक्तिमार्गीय दीक्षाका उपदेश, भक्तिमार्गीय सेव्यस्वरूपप्रदान, ऐसे स्वरूपके

प्रसादका प्रदान आदि. अतएव (ग)विभागीय दोनों वचनोंमें श्रीहरिरायजीने 'दम्भादिरहित' तथा 'अदम्भ' पद सावधानीपूर्वक प्रयुक्त किये हैं.

सूक्ष्मतासे विचार करनेपर आचार्यतया सम्भावित व्यक्तिके सर्वप्रथम दो मौलिक भेद सामने आते हैं: प्रथम जन्मना वंशज और द्वितीय विद्यया वंशज. प्रथम कल्पके अन्तर्गत आचार्यकुलके नर या नारी यों दो उपभेद होते हैं. यहां पुन: तीन कल्प हमारे सामने आते हैं: (१) अनिन्दित (२) निन्दित तथा (३) निषिद्ध. साथ ही साथ इन अनिन्दित आदि तीन प्रकारोंमें श्रीभागवततत्त्वज्ञता या तदनभिज्ञता के दो अवान्तर उपभेदोंमें कृष्णसेवाकथोभयपरता केवलसेवापरता या केवलकथापरता रूप स्वधर्मको भक्ततया, भक्त्यर्थितया, लोकार्थितया अथवा आजीविकार्थितया निभानेवालोंके कारण उभरते अनेक भेदोपभेदके वश गुरुतया सम्भावित कुछ गुरुपदार्ह हो सकते हैं, कुछ गुरुपदार्ह न होनेपर भी गुरुद्वारपदार्ह हो सकते हैं; और अन्य कुछ गुरुतया अथवा गुरुद्वारतया भी सर्वथा वर्जनीय हो सकते हैं. इन्हें अधोलिखित सारणीके आधारपर समझा जा सकता है:

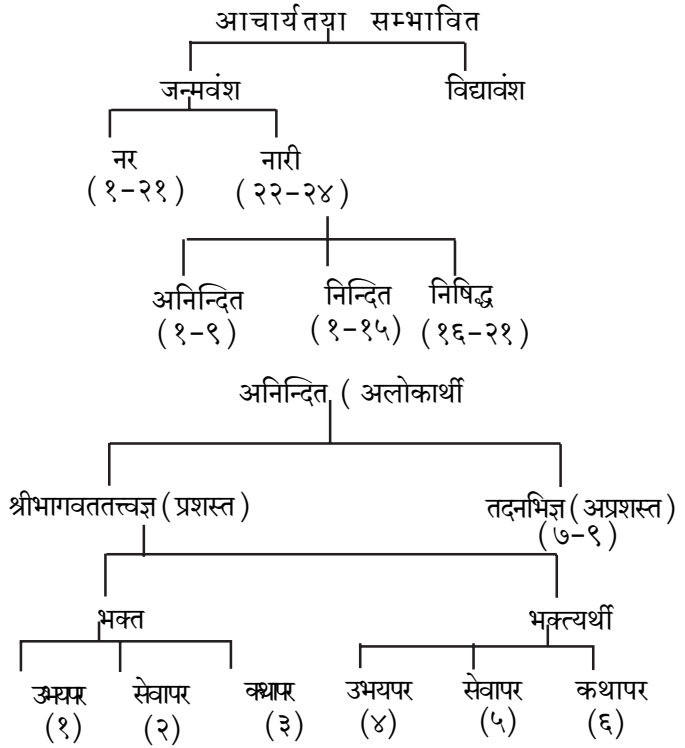

(१-६): इनमें आचार्यवंशमें जन्म लेनेवाले पुरुषके कल्पके अन्तर्गत, जो अनिन्दित अलौकिकार्थीका उपकल्प है उसमें, जो व्यक्ति भागवततत्त्वज्ञ होनेसे और स्वयं भक्त भी होनेसे कृष्णकी सेवा-कथा दोनोंमें तत्पर हो उसे उत्तमोत्तम कक्षाके गुरुके रूपमें मान्य करना चाहिये. उससे उतरती कक्षापर केवल सेवामें तत्पर;तथा उससे भी उतरती कक्षापर केवल कथामें तत्पर, को समझना चाहिये. जो स्वयं भक्त होते हैं वे कभी लोकार्थी या आजीविकार्थी तो हो ही नहीं सकते. अत: पुष्टिभक्तिमार्गके प्रचारोपयोगी अशेष माहात्म्य, महाप्रभुका, ऐसोंमें अखण्डित स्वीकारना पड़ता है. इसी तरह स्वयं भक्त न भी हों परन्तु लोकार्थी या आजीविकार्थी न होकर शुद्ध भक्त्यर्थी होनेके कारण भगवानकी सेवा या कथा या दोनों हीमें जो प्रवृत्त होते हैं वे भी कभी लोकार्थी या आजीविकार्थी बनना नहीं चाहेंगे. अतएव भक्त जितनी उत्तम कक्षाके न होनेपर भी इन्हें प्रशस्त कक्षाके ही गुरु मानने चाहिंये. भक्तोंकी तरह भक्त्यर्थियोंके भी तीन उपभेद स्पष्ट सोचे जा सकते हैं. इस तरह भागवततत्त्वज्ञकी कोटिमें भक्तिमार्गीय गुरुओंके छह प्रकार सम्भव हैं. इन्हें आदरपूर्वक गुरुतया सेवनीय माना जा सकता है. ये छहों उत्तम या प्रशस्त कल्प हैं.

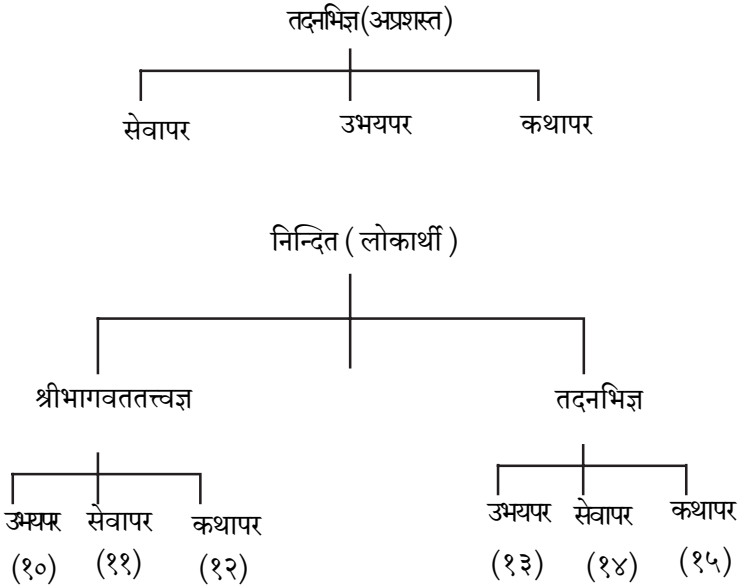

(७-१५) : तीन अप्रशस्त कल्प तथा छह निन्दित कल्प- यों ये नौ कल्प, गुरुतया माननीय व्यक्तियोंकी उत्तम कक्षावालोंके कल्प न होकर गुरुद्वारतया माननीय मध्यम कक्षावाले व्यक्तियोंके कल्प हैं. इन सभी प्रकारोंको श्रीहरिरायचरणने ''अथाधुनिकतीर्थानाम् अतथाभूततोपि हि उपदेशः तथाभूतः गुरोरिव फलिष्यति यदि दुःसंगदोषेण नान्यथा चेद् भवेद् मतिः'' शब्दावलीसे निरूपित किया है. इनमें सातवेंसे लेकर नौवें कल्प इसलिये 'अप्रशस्त' कहे जा रहे हैं, क्योंकि ये सभी अलौकिकार्थीके प्रभेद होनेसे प्रशस्त होनेपर भी इन्हें गुरुतया मान्य करनेमें कुछ दिक्कत है. गुरुका उत्तरदायित्व होता है कि वह भागवतप्रमाणमूलक उपदेश शिष्यको प्रदान करे, मनघडंत उपदेश नहीं. प्रस्तुत कल्पगत व्यक्ति, परन्तु, स्वयं गतानुगतिकतया पुष्टिमार्गीय सेवाकथाके प्रकारको भलीभांति अनुसरता है पर भागवतज्ञ नहीं हैं. अतएव ऐसे अज्ञानियोंको गुरु बनानेपर कभी मनघडंत उपदेश मिल जानेका भय बना रहता है. ये अच्छे भक्त हो सकते हैं; अच्छे उपदेशक नहीं.

दसवेंसे लेकर पंद्रहवें कल्प तक लोकार्थीके पूर्वसदृश छह कल्प हैं. ''दम्भादिरहितं नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञम्''की व्याख्या करते हुवे महाप्रभुने कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत दिये हैं- ''तत्रापि निमित्तानि वारयति 'दम्भादिरहितम्' इति...अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथाकरणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह 'श्रीभागवततत्त्वज्ञम्' इति''. इससे सिद्ध होता है कि काम-लोभ-ोह-दम्भादिमूलक अन्यथाचरण या अन्यथोपदेश एक अलग दोष है तथा अज्ञानमूलक अन्यथाचरण या अन्यथोपदेश कुछ अलग प्रकारका दोष. प्रथम निषिद्ध कोटिमें आता है जबकि द्वितीय निन्दित कोटिमें. इसी तरह भीतर कुछ ठीकसे समझ न पाना पर बाहरसे उचित रीतिसे बरतना; और न बुद्धिसे भलीभांति समझ पाना और न भलीभांति बरत ही पाना, यह एक और प्रकार गड़बड़ीका हो सकता है. इन्हीं सम्भावनाओंको लक्ष्यमें रखकर अनिन्दित कोटिके भागवतानभिज्ञ तथा निन्दित कोटिके भागवततत्त्वज्ञ के बीच रहे सूक्ष्म अन्तरको समझना चाहिये. अतः निन्दित कोटिके अन्तर्गत उत्तरोत्तर अपकृष्ट कक्षाओंवाले छह प्रकार वर्णित हुवे हैं. ये कल्प भक्तिमार्गदृष्ट्या निन्दित निम्नकक्षाओंके हैं, क्योंकि भगवत्सेवा अथवा भगवत्कथा के बाह्यप्रकारोंमे किसी भी निषिद्ध वृत्त्यर्थादिके प्रकारको अपनाते नहीं हैं. अर्थात् ''अनिषिद्धप्रकारेण 'ऐहिकं मे भवतु' इति अनुसन्धाय

प्रवृत्तो'' वचनमें निरूपित लोकार्थीका यह प्रकार है. इसकी ही महाप्रभुने ''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा'' कहकर निन्दा की है. फिर भी श्रहिरिरायचरण कहते हैं कि स्वयं कितनी भी निन्दनीय कक्षाका क्यों न हो, स्वयं समझता हो या न समझता हो, परन्तु महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा उपदिष्ट भजनके प्रकारको तोड़े-रोड़े बिना या छोड़े बिना उपदेश देता हो तो ''तथाभूतगुरोरिव फलिष्यति''=इन गुरुद्वारभूतोंसे भी शिष्योद्धार सम्भव है.

(१६-२०) कल्पोंमें आजीविकार्थ भगवत्सेवा या भगवत्कथा करनेवाले जघन्यकोटिके निषिद्ध अधिकारियोंका संकलन हुवा है. ये श्रीभागवततत्त्वज्ञ हों या अनधीत मूढ, इनमें पुष्टिभक्तिमार्गके प्रचारोपयोगी अशेष स्वमाहात्म्यका महाप्रभुने अशेष अपहरण कर लिया होनेसे इनका संग सर्वात्मना त्याज्य ही होता है. ये गुरुपदके लिये या गुरुद्वापदकेलिये भी सर्वथा अयोग्य होते हैं. इन सभी प्रकारोंमें, आचार्यवंशज होनेके कारण, स्वरूपलक्षणमें निरूपित योग्यता तो रहती है. फलमुखलक्षणमें निरूपित योग्यतासे किन्तु सर्वथा विपरीतता ही प्रकट होनेसे ये वर्जनीय होते हैं. अपवित्र पात्रमें रखा पवित्र गंगाजल भी आचमनीय नहीं रह जाता है. तद्वत् निषिद्ध महापातकी देवद्रव्योपजीवन अथवा देवलकता रूप पाषण्डके कारण ऐसे व्यक्ति सर्वथा अस्पृश्य असम्भाषणीय अदर्शनीय जब माने गये हैं तब इनका गुरुतया अथवा गुरुद्वारतया संग अनुमोदनीय कैसे हो सकता है ? स्वयं महाप्रभुने ऐसोंको अपना माननेसे जब इन्कार कर दिया है तब इन्हें वाल्लभ सम्प्रदायमें गुरु या गुरुद्वार कैसे माना जा सकता है ?

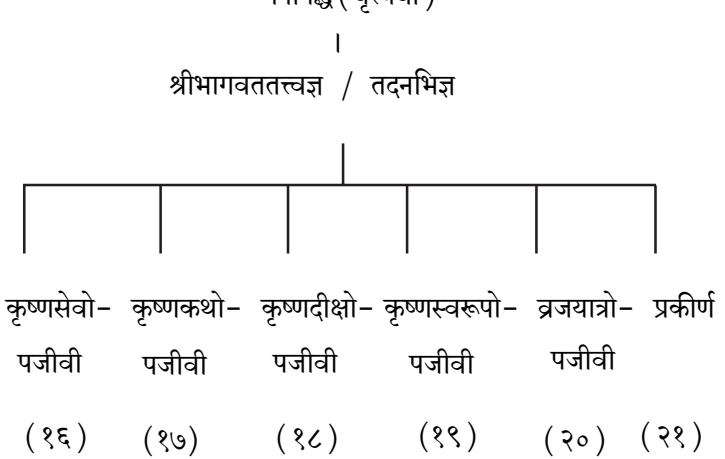

यहां प्रकीर्णके अन्तर्गत मालापहेरामणीमें उछामणी आदिकी भेंट बटोरनेवाले, कहाड़ीभेंट, यमुनायाग, लोटीजीकी नीलामी, प्रसादविक्रय आदि पुष्टिमार्गमें निषिद्ध वृत्तियों द्वारा जीवननिर्वाह करनेवाले तथा अन्य भी लोक-वेदमें सत्पुरुष या धर्माचार्य ब्राह्मणकी हैसियतसे निषिद्ध वृत्तिओंका समाश्रयण करनेवालोंका परिगणन कर लेना चाहिये. (विशेष जिज्ञासापूर्त्यर्थ पृ. १३-१४ देखें).

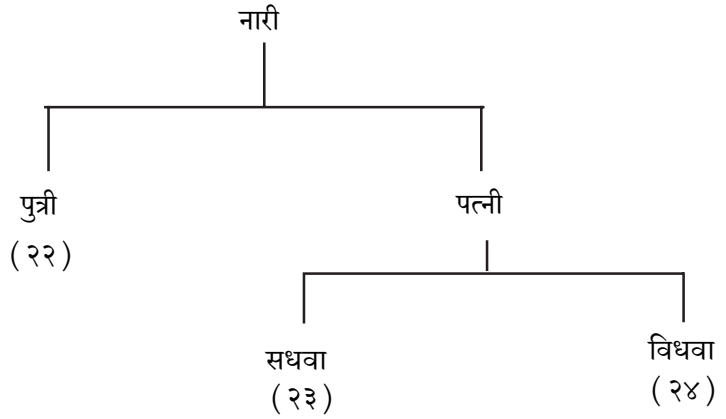

(२२-२४)इन तीन कल्पोंमेसे प्रथममें आचार्यवंशसे सम्बद्ध होनेपर भी गुरुके लक्षणान्तर्गत नर न होनेके कारण अनुपनीतता है अतः अद्विजता है. क्योंकि महाप्रभुके अनुसार ''ब्राह्मण्यं न जातिः, व्यक्तिसद्भावेपि तस्यापगमात्, 'ब्राह्मण्यादेव हीयते' इति वाक्यानुरोधात् च...ब्राह्मण्यं नाम काचिद् देवता. सा यस्मिन् देहे अभिव्यक्ता भवति ते 'ब्राह्मणा' इति उच्यन्ते...सा च उपनयनेन देहे समायाति.'' (सुबो. २।१।३७). अतः आचार्यवंशजोंकी पुत्रिओंमें उनके किसी द्विजके साथ विवाहित होनेके पूर्व द्विजत्व ही नहीं होता. गुरुपदकेलिये यदि अद्विजको भी अधिकारी मानना हो तब तो पुष्टिमार्गीय सभी अद्विजोंको गुरुपदकेलिये अधिकारी मानना पड़ेगा. उनका भी ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा प्रदान करनेका अधिकार मान्य करना पड़ेगा. द्विजसे विवाहित होनेके बाद आचार्यवंशज पुत्रिओंमें द्विजत्व तो आता है परन्तु तब वे आचार्यकुलकी नहीं रह जाती. अन्यथा इन आचार्यवंशजाओंके वंशजोंका भी अधिकार मान्य करना पड़ेगा. जैसे विवाहके बाद आचार्यकुलमें परिणीत स्त्री आचार्यकुलकी हो जाती है ऐसे ही आचार्यवंशजा कन्या विवाहके

बाद आचार्यकुलकी नहीं रह जाती. अतएव पुत्रिओंको पुष्टिमार्गीय ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान करनेका अधिकार नहीं है.

आचार्यकुलमें विवाहित स्त्री अपने पतिकी विद्यमानतामें 'गुरुपत्नी' कहलाती है, 'गुरु' नहीं. अविद्यमानतामें, किन्तु, ''आचार्यकुलाद् = गुरुगृहाद् गुर्वभावे तत्पत्क्यां तत्पुत्रे तद्गोत्रे वा ब्रह्मचर्यम् इति ज्ञापयितुं 'कुल'पदम्'' (अणु.भा. प्रका.३।४।४७) इस वचनके बलपर गुरुत्व प्राप्त होता है. अतएव 'आचार्याणी'तथा 'आचार्या' ऐसे दो पृथक पदोंके स्त्रीलिंगमें प्रयोग व्याकरणशास्त्रमें मान्य किये गये हैं. सधवा आचार्यपत्नी होती है तथा विधवा आचार्यत्वका उत्तरदायित्व वहन करनेवाली आचार्या बन सकती है. नारीके कल्पमें इस अपवादको भी स्पष्टतया समझ लेना आवश्यक है.

(२५) इस कल्पके अन्तर्गत आचार्यवंशजेतर नरमें फलमुखलक्षणके विद्यमान होनेपर उत्कृष्ट भगवदीयके रूपमें उसके साथ सत्संग अवश्य किया जा सकता है- गुरुतया संग नहीं. ऐसे भगवदीयोंके साथ सत्संगादिका लाभ लेकर भक्तिमार्गमें मूल आचार्य, अर्थात् महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य(= गोस्वामी श्रीगोपीनाथ एवं श्रीविठ्ठलनाथ प्रभु)चरणोंमें गुरुबुद्धि रखते हुए स्वयमेव कृष्णसेवामें प्रवृत्त होनेका कल्प भी महाप्रभुने ही समझाया है:

मूल: तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्।।
(त.दी.नि. सर्वनि. २२८).

भावानुवाद: पूर्वोक्त लक्षणयुक्त गुरुके न मिलनेपर (अर्थात् कहीं स्वरूपयोग्यता होनेपर फलमुखयोग्यतासे वैपरीत्य और कहीं फलमुखयोग्यता होनेपर स्वरूपयोग्यतासे वैपरीत्य के दर्शन होनेपर) स्वयमेव स्वतोलब्ध भगवत्स्वरूपकी सेवामें स्वतः ही प्रवृत्त हो जाना चाहिये.

इसकी व्याख्या करते हुए आवरणभंगमें श्रीपुरुषोत्तमजीने कुछ स्पष्टीकरण दिये हैं जो प्रत्येक पुष्टिमार्गीयकेलिये अब सर्वथा मननीय हैं. वे कहते हैं: ''आगे चलकर कलियुगके बलिष्ठ होनेके कारण निज वंशजोंमें गुरु होनेके लायक लक्षण नहीं दिखलाई देंगें. तबकी व्यवस्था महाप्रभु समझाते हुए स्वयंमें ही गुरुत्व सीमित करना चाहते हैं. यहां ''तदभावे...'' आज्ञाका दैन्यभावपूर्वक अनुसरण करनेकेलिये यदि कोई स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाता हो तो धर्मका आभास छल या

पाषण्ड नहीं मान लेना चाहिये और न मूढ़ता ही. स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवाले भक्त या भक्त्यर्थी को सेवाके प्रकारके बारेमें कुछ जिज्ञास्य हो तो भगवदीयोंसे मिलकर पूछकर जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये. (द्र. त.दी.नि. सर्वनि. प्रका. आव.भं. २२८).

स्पष्ट है कि यह पुष्टिमार्गियोंके लिये आपत्कालीन व्यवस्था है, जो स्वयं महाप्रभुद्वारा ही उपदिष्ट हुई है.

(घ)

इस विभागके वचनोंके अन्तर्गत प्रथम वचनमें हमने देखा कि वृत्त्यर्थ कृष्णनामदीक्षाको भी निन्दनीय माना है. द्वितीय वचनमें, यद्यपि, गुरुत्वको ही वृत्तित्वेन धर्म्य माना है तो भी दोनों वचनोंकी एकवाक्यता इसी तरहसे हो सकती है कि शिष्यको उसके कर्तव्यके उपदेश करनेकी जो शास्त्रद्वारा अनुमोदित वृत्ति है उसे हमें अपनानी चाहिये.निर्धारित धनराशि लेकर ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान करना,शिष्यवृद्धि, ख्यातिवृद्धि, प्रतिष्ठावृद्धि,ऐश्वर्यवृद्धि के चक्कर चलानेके मनोभावोंपर काबू पाना चाहिये. ''पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकमदम्भतः'' (त.दी.नि. सर्वनि. २४३) – ''पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितं, वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि, तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत्'' (त.दी.नि. सर्वनि. २५३-२५४) – ''एतदभ्यसनाल्लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात्. परमत्र एको दोषः – तदुपजीवनम् इति...वृत्त्यर्थमुपायो न कर्तव्यः'' (त.दी.नि. सर्वनि. ६७) – ''इदं नामात्मकं भगवतो रूपं तत् स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति'' (त.दी.नि. भाग.नि. १।२७) आदि अनेक वचनोंके कारण तथा स्वयं विमर्शकारद्वारा उद्धृत ''एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थः असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते'' (विमर्श पृ. १७) न्यायके आधारपर भी जैसे भगवत्स्वरूपात्मक होनेसे भागवतका वृत्त्यर्थ विनियोग उचित नहीं होता वैसे ही भगवत्सेवा या साक्षात् भगवत्स्वरूप का भी वृत्त्यर्थ उपयोग पुष्टिमार्गमें कैसे अनुमोदनीय हो सकता है! कण्ठमें प्राण अटके हों तब भी वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाका तो स्वप्न भी नहीं देखना चाहिये!! स्वप्न भी दिखता हो तो उसे अपने पापोंका उसे उदय मानना चाहिये!!!

(ङ)

इस विभागके वचनोंकी (घ)विभागीय जलभेदव्याख्याके वचनके साथ एकवाक्यता करनेपर, अर्थात् ''तत्रापि वित्तदातुः सत्फलं प्रतिगृहीतुस्तु संसारोत्पत्तिः'' – ''यो वदक्त्यन्यथावाक्यम् आचार्यवचनाज्जनः, संसृतिप्रेरको वापि

तत्संगो दुष्टसंगमः'' वचनोंकी परस्पर एकवाक्यताके आधारपर ''अवाञ्छनीय लक्षणयुक्त गुरुका संग=दुष्टसंग'' समीकरण भी स्वीकारना ही पड़ेगा. अन्यथा कभी न कभी पुष्टिमार्गीगुरुपदाकांक्षी आचार्यवंशज गोस्वामिओंको वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाका प्रकार त्याज्य मानना ही पड़ेगा.

वृत्त्यर्थ भगवत्सेवा न करनी हो तो तनुवित्तजा सेवामें तनुवित्तके द्वन्द्वको अविग्रहार्ह मानना पड़ेगा! इस तरह जब भगवत्सेवाद्वारा धनप्राप्तिकी आशा ही रह नहीं जायेगी तब जनताकेलिये भगवत्स्वरूपके प्रदर्शनकी वृत्तिमें भी स्वतः अरुचि पनप जायेगी. फलरूपेण श्रीहरिरायचरणद्वारा उपदिष्ट आदर्श मूर्तिमान हो पायेगा –

''तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः।
न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये।।
श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन।
न (विमर्श)कल्पितप्रकारेण न (पीठाधीशत्वप्राप्ति)दुर्भावसमन्वयात्।।''
(शिक्षापत्र १८।१२-१३).

क्या अब भी इसके भावानुवादको प्रस्तुत करनेकी अपेक्षा बची रह गई है?

सिद्धान्तसार

यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः इति.

– सुबो. २।९।१९.

जो स्वार्थ (वृत्त्यर्थ भूत्यर्थ प्रतिष्ठार्थ) भगवत्सेवा करता हो उसे (पुष्टिसम्प्रदायमें) अधम (जघन्य गुरु एवं अनुयायी) समझना चाहिये.

– महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य.

उपसंहार

इस तरह प्रस्तुत विषयके वाचनिक पक्षोंके विचारके बाद उपसंहारतया अब अन्तमें विमर्शकारद्वार पृष्ठ १५३पर प्रस्तुत युक्ति–'' 'वल्लभकुलके गोस्वामी यदि देवद्रव्यभक्षण करते होते तो वंशनाश हो गया होता. क्योंकि, चौरासी वैष्णवकी वार्ताके अनुसार ''तब श्रीगोपीनाथजी कहें– 'तिहारो कहाईके श्रीठाकुरजीकी वस्तुमें अपनो मन करेगो ताको निर्मूलनाश होय जायेगो.' तब श्रीआचार्यजी कहें– 'हमारो मारग तो ऐसो ही है.' सो द्रव्यतें कछुक गोपीनाथजी प्रसन्न भये हते सो एक पुत्र भयो परन्तु वंश नाहीं चाल्यो''(चो.वै.भा.प्र. ३।८). अत: इस वचनमें स्थापित नियमके आधारपर वंश नष्ट हो गया होना चाहिये था परन्तु वंश तो विद्यमान है ही. इससे सिद्ध होता है कि वल्लभवंशमें किसीने देवद्रव्यका भक्षण नहीं किया है.' ''

साथ ही साथ– ''जो जो कुल देवद्रव्यका भक्षण करते हैं उनका निर्मूलनाश होता है'' ऐसी व्याप्ति मानी है और ''जो जो कुल निर्मूल नष्ट हुए हैं उनमें देवद्रव्यभक्षण हुआ ही होना चाहिये'' ऐसी व्याप्ति नहीं मानी जा सकती यह खुलासा भी दिया है (सम्भवत: भूतकालकी तरह वर्तमानमें भी कई गोस्वामी बालकोंके वंश चलनावाले नहीं हैं ऐसे तथ्यके उजागर होनेसे –गो.श्या.म.).

वैसे तो देवद्रव्यभक्षण और वंशनाश के बीच उल्लिखित वार्तावचनके आधारपर जो हेतु–हेतुमद्–भावका सम्बन्ध समझमें आता है वह व्याप्तिग्राहिका सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिद्वारा ग्रहीत होता प्रत्यक्षदृष्ट सम्बन्ध तो नहीं है. इस नियमको, अतएव, आनुमानिक भी नहीं माना जा सकता. यह तो शुद्ध वाचनिक हेतु–हेतुमद्–भाव है. अत: विमर्शकारको अभीष्ट यहां श्रुतार्थापत्ति है या अनुमान –यह जिज्ञास्य बन जाता है!

इसे श्रुतार्थापत्ति स्वीकारनेपर वंशनाशाभावान्यथानुपपत्त्या वार्तामें श्रुत जो वंशनाशहेतुभूत देवद्रव्यभक्षण है, उसके अभावकी अर्थापत्ति स्वीकारनी होगी. यदि अनुमान लेते हैं तो ''श्रीवल्लभकुलं देवद्रव्यभक्षणापराधरहितम्, अनष्टवंशत्वात् वंशसातत्यात् वा, यत्र यत्र अनष्टवंशत्वं वंशसातत्यं वा तत्र तत्र देवद्रव्यभक्षणापराधरहितत्वम्'' ऐसा कुछ आकार अनुमानका स्वीकारना पड़ेगा.

वैसे तो इस वाचनिक नियमको यौक्तिक न बनाना ही उचित था परन्तु विमर्शकारने क्योंकि वह कृत्य कर ही दिया है तो, जहांतक युक्ति जाती है

वहांतक, अकाम भी यौक्तिक चिन्तनद्वारा अनुधावन करना ही पड़ेगा. परिणाम चाहे नितान्त अवाच्य अचिन्तनीय क्यों न हो पर ''उत्प्रेक्षितस्य ह्यगतिर्न विद्यते''न्यायसे विमर्शकारद्वारा उत्प्रेक्षित युक्तिके अनुसरणार्थ बाधित होकर कुछ लिखना पड़ रहा है.

स्पष्ट है कि ''यत्र धूमः तत्र वह्निः'' व्याप्तिमें ज्ञापकहेतुभूत कार्यद्वारा कारकहेतुभूत कारणकी अनुमिति की जाती है. तद्विपरीततया विमर्शकार यहां कारकहेतुभूत देवद्रव्यभक्षणको ही ज्ञापकहेतु भी बना रहे हैं:''यत्र यत्र देवद्रव्यभक्षणं तत्र तत्र निर्मूलो नाशः इति व्याप्ति'' (विमर्श पृ.१५३). जब कोई ऐसा व्याप्तिनियम घड़े कि ''यत्र वह्निः तत्र धूमः'' तब ऐसे हेतुका अयोगोलकमें व्याप्तिव्यभिचार दिखलाते ही व्याप्तिनियम खण्डित हो जाता है.

वैसे तो तर्कशास्त्रका यत्किञ्चित् अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी भी इस तथ्यको भलीभांति जानते ही होते हैं कि कारणसे जब कार्यका अनुमान करना हो तब कारणसामग्रीके उल्लेख करनेके बजाय सामग्रीघटक एकाद किसी कारणका हेतुतया उल्लेख करनेपर हेतु सोपाधिक बन जाता है. उदाहरणतया ''पर्वतो धूमवान् वह्नेः'' कहनेपर धूमका एक कारण जैसे वह्नि होती है ऐसे ही दूसरा कारण आर्द्रेन्धनसंयोग भी होता है. दोनोंके साहित्यके अभावमें केवल वह्निसे धूम उत्पन्न नहीं होता. अतएव ऐसे हेतुको 'सोपाधिक' कहा जाता है.

इसी तरह यदि देवद्रव्यका अभक्षण भी वंशसातत्यकी कारणसामग्री होती या देवद्रव्यका अभक्षण वंशसातत्यका एकमात्र कारण होता तो व्यतिरेकव्याप्तिद्वारा अनुमान शक्य था. देवद्रव्यभक्षणको यदि वंशसातत्यका एकमात्र हेतु या कारणसामग्री मानते हैं तो सद्योजात शिशु या मरणासन्न वृद्ध भी संततिजनक होने लगेंगें, देवद्रव्याभक्षी हों तो. अन्यथा हम जानते हैं कि वंशसातत्य कभी बीज और क्षेत्र की उभयजन्यतासे प्रयुक्त होता है. कभी विवक्षित बीजके राहित्यसे विशिष्ट केवलक्षेत्रजन्यतासे प्रयुक्त भी हो सकता है. कभी दत्तकविधानवश भी वंशसातत्य हो सकता है. वैसे जहांतक विमर्शकारकी मान्यताओंका सवाल है इनमेंसे कुछ भी न रहनेपर किसी एकको दिये जानेवाले ठाकुरजी जिस किसीके मांथेपर बादमें बिराजमान हो जायें केवल इतनेसे हेतुके कारण भी वंशसातत्य हो जाता है! उदाहरणतया न तो श्रीयदुनाथजीकी औरसपुत्रपरम्परामें और न दत्तकपुत्रपरम्परामें ही होनेके बावजूद केवल श्रीबालकृष्णलाल ठाकुरजी, क्योंकि, प्रभुचरणने श्रीयदुनाथजीको पधराने चाहे थे –बस इतने ही हेतुके बलपर विमर्शकार अपने–

आपको श्रीयदुनाथगृहोद्भव-श्रीयदुनाथपरम्परोद्भव-श्रीयदुनाथवंशोद्भवतया भी बिरदवाना चाहते हैं ! किसीके ठाकुरजीकी ऐसी छीनाझपटी कर लेनेसे वंशसातत्यकी अश्रुतपूर्व कारणसामग्री जब स्वयं विमर्शकारने ही मान्य रखी है तब केवल देवद्रव्यके अभक्षणको वंशसातत्यका एकमात्र हेतु कैसे माना जा सकता है ? 'पुष्टिमार्गीय पीठाधीश: स्वरूप और कर्तव्य' ग्रन्थमें, अतएव, हमने सावधान करनेका प्रयास किया था कि ऐसी कारणसामग्रीकी कुकल्पना करनेपर सभी एकदूसरेके ठाकुरजीकी छीनाझपटी शुरु करके एकदूसरेके गृहोंके मालिक होनेका दावा करने लग जायेंगें ! बावजूद इसके विमर्शकारने इस गम्भीर समस्यापर ध्यान देनेके बजाय मिथ्या प्रचार चालु ही रखा है. इसे सत्य माननेपर, परन्तु, यह व्याप्तिनियम खण्डित हो जाता है और व्याप्तिनियमको प्रामाणिक माननेपर षष्ठपीठाधीशत्व डावांडोल होने लगेगा.*

प्रकृतमें कारणताघटक तत्त्वोंके इतने वैविध्यके कारण देवद्रव्याभक्षणको वंशसातत्यका एकमात्र हेतु माना नहीं जा सकता है. फिर भी यदि अनुमान करना ही हो कि वल्लभकुलमें किसीने भी देवद्रव्यका भक्षण नहीं किया है, क्योंकि वल्लभकुलका निर्मूल नाश नहीं हुआ है. जहां-जहां देवद्रव्यभक्षण किया जाता है वहां वहां निर्मूलनाश हो जाता है, अर्थात् वंशसातत्य नहीं रह जाता है, ''यन्नैवं तन्नैवं''. तो ऐसे हेतुको अप्रयोजक, अर्थात्

---

*इस सन्दर्भमें हम अपने भी इन दो श्लोकोंको यहां उद्धृत करना चाहेंगें:

''क्रीडायां बाल्यकाले प्रभुचरणरतेः वर्द्धकत्वाद्धि यस्य
पश्चात्तु स्वात्मजेभ्यः स्वनिधिवितरणे दित्सया पुष्टभावात् ।
श्रीमत्सप्तस्वरूपोत्सवभवकलहे वाल्लभैः हि स्वरूपैः
तुल्यत्वस्योपदेशात् निखिलनिधिसमस्थापनात् सेवनाच्च ।।
आचार्यैर्वान्ववायैः नहि भवति भिदा सेवने पुष्टिरूपे-
ष्वित्थं सिद्धे कृतान्ते निरुपधिभजने भावभेदादनंगी-
कारेप्येवं विभक्तौ यदुपतिसदनाकारकत्वं विभाव्य
षष्ठत्वं वर्णितं ते कविभिरपि मुधा वस्तुतो बालकृष्णः ।।

अर्थात् श्रीमत् विठ्ठलनाथ प्रभुचरणकी बाल्यावस्थाकी क्रीडामें रतिवर्धक होनेके कारण, बादमें अपने सप्त आत्मजोंको अपने निधिस्वरूपोंके वितरणके

समय पुष्ट करके श्रीयदुनाथजीको पधरानेकी इच्छाके कारण, श्रीयदुनाथजीके मनस्तापके समाधानमें ''ठाकुरजीमें छोटो-बड़ो कहा ?'' वचनद्वारा महाप्रभुद्वारा पुष्ट किये गये सभी स्वरूपोंके साथ श्रीबालकृष्णलालकी तुल्यताके निरूपणसे भी, और सप्तस्वरूपोंके सम्मिलित अन्नकूटोत्सवमें श्रीबालकृष्णलालको साथ पधरानेके व्यवहारद्वारा भी यह सिद्धान्तित हुआ ही था कि महाप्रभुके निधिस्वरूपों या उनके वंशजोंके निधिस्वरूपोंमें परस्पर छोटे-बड़े स्वरूप होनेका तारतम्य होता नहीं है. यह निरुपधि भजनके विचारसे कही गई बात है. फिर भी किसी भावभेदवश श्रीबालकृष्णलाल ठाकुरजीको न स्वीकारनेवाले श्रीयदुनाथजीको बंटवारेमें मिले ठाकुरजी न होनेपर भी इन्हें कविओंद्वारा षष्ठनिधि माना जाता है. यह ठीक है क्योंकि षष्ठी विभक्ति कभी कारक नहीं होती. ऐसे ही यदुनाथगृह-कारक न होनेके कारण ही कविजनोंने श्रीबालकृष्णलाल ठाकुरजीको व्यर्थ ही षष्ठनिधि मान लिया है. अन्यथा श्रीद्वारकेशजी भावनावाले तथा सुरतके घरसे द्वितीय घरमें गोद आनेवाले रश्मिकार श्रीगोपेश्वरजी तो श्रीद्वारकाधीशके गोदके ठाकुरजी ही इन्हें मानते हैं. इसकी विस्तृत विवेचना आगामी प्रकरणोंमें की जायेगी.

''हेतुरस्तु साध्यं मास्तु'' कहकर अनुकूलतर्कके अभावमें दोषयुक्त ही मानना पड़ेगा.

फलरूपेण यदि श्रुतार्थापत्ति विमर्शकारको अभीष्ट है ऐसा मानकर चलें तो उसमें अन्यथानुपपत्तिका बल होना आवश्यक होता है. वह पूर्वपरिगणित अनेकानेक हेतुओंके कारण अन्यथा उपपत्तिकी सम्भावनाओंको विचारनेपर श्रुतार्थापत्तिको सर्वथा कुण्ठित ही बना देता है.

ऐसी निरर्थक बातोंसे विमर्शकार वस्तुतः किसे बरगलाना चाहते हैं - यह समझमें नहीं आया!

वैसे प्रामाण्याप्रामाण्यकी तो भगवान ही जाने, फिर भी सत्सिद्धान्तमार्तण्डकारने तो इस विषयमें भी शाण्डिल्यसंहिता भक्तिखण्डसे वचन उद्धृत कर रखें हैं कि पुष्टिसम्प्रदायमें कुछ कालके बाद आचार्यपराङ्मुखोंके कपटके कारण पुष्टिमार्ग ही विलिन हो जानेवाला है:''विरलेष्वेव भविता सम्प्रदायोत्यनुत्तमः, आश्चर्याणि चरित्राणि कृत्वा नानाविधान्यसौ, स्थापयिष्यति वै तस्याः पारम्पर्यक्रमं कुलम्, समुद्धृत्य ततो जीवान् हरेः प्रीतिं करिष्यति, ततः कतिपये काले कालदोषप्रभावतः, विलयं यास्यति पन्थाः कापट्येनाकुलः परः, परदोषान्वितैः पुंभिः निजाचार्यपराङ्मुखैः

(द्र. सत्सि.मार्त.प्रश्न.२।४।१२). यदि यह वचन प्रामाणिक है तो विमर्शकारोत्प्रेक्षित हेतु शास्त्रवचनबाधित होनेसे भी दुष्ट ही सिद्ध होता है. अस्तु.

अतः अन्तमें पुनः अपनी हृदयव्यथाजन्य शुभेच्छा प्रकट करते हुए–

श्रीमद्वल्लभवंशवृक्षजनितं भक्त्येकहेतुः फलं
भूयात् तद् भुवि भोग्यभावभरितं कृष्णैकतोषे परम्।
वृत्त्यर्थं भगवत्प्रदर्शनविधौ पातित्यमासादयत्
कष्टं भो कलिकाकदष्टमिह तद् दृष्ट्वापि सीदेन्न कः।।

इस तरह गोस्वामि–श्रीदीक्षितात्मज श्याममनोहर द्वारा विरचित सेवा–देवद्रव्यादिविमर्श तथा सेवा–देवद्रव्यादिसारसंग्रह क्रोडपत्रकी विशोधनिकामें ''शास्त्रीय सन्दर्भमें: पुष्टिमार्गीय सेवार्थ आजीविकास्वरूप'' नामक द्वितीय प्रकरण यहां समाप्त होता है.

।। सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नो भवतु ।।

वचनामृत – ३०

(शिष्टाचार और पूर्वजाचार का तारतम्य)

अब आप तीसमो वचनामृत आज्ञा करत हैं. ...आचार्यत्व दोउनको है जो श्रीमहाप्रभुजीको और श्रीगुसांईजीको. श्रीसुबोधिनीजी चतुर्थस्कन्धके चार अध्यायनपे श्रीगुसांईजीने करी है. परि श्रीमदाचार्यचरणकी आज्ञा न भई सो तासों प्रकरण न चल्यो. सो ताको अभिप्राय यह है जो श्रीमद्भागवत है सो श्रीनाथजीको स्वरूप है; और श्रीसुबोधिनीजी है सो श्रीस्वामिनीजीको स्वरूप है. सो जितने अंगकी योग्यता होय सो तितनो निरूपण करे हैं. सो तासों प्रथमस्कन्ध, द्वितीयस्कन्ध, तृतीयस्कन्ध, दशमस्कन्ध, एकादशस्कन्ध के चार अध्याय तांई आपने करे हैं. सो दर्शन देत हैं. और स्कन्धमें जहां टीकाको काम परे तहां निबन्धमें तत्त्वदीप भागवतार्थप्रकरण है. सो तामें देखि लेनो... और श्रीसुबोधिनीजीमें काहूं ठौर सन्देह रही जाय तो श्रीगुसांईजीने टिप्पणीमें सन्देह निवृत्त कियो है. और श्रीसुबोधिनीजीके उपर लालुभट्टने योजना करी है. सो ये सब ग्रन्थ श्रीभागवतजीके उपयोगी है...तब आपने आज्ञा करी जो प्रथम तो आज्ञाप्रमाण चलनो और श्रीसर्वोत्तमजीको अवगाहन बहोतसो राखनो. सो तब कृपा होय.ओर सर्वोत्तमजीकी टीका पांच–सात बालकनने करी है. परि श्रीबालकृष्णजी महाराजने करी है वह सर्वोपरि है. सो तिनको नाम सर्वोत्तमभाष्य है. सो छे हजार श्लोक पूर है. सो टीका हमने सरस्वतीभण्डारमें ढूंढी, पर पाई नाहीं... सो तासों कहूं पोथी चली गई होय – ऐसो दीसत है. सो हमहू कृष्णगढ़ गये. सो सोध तो बहोत करी परि कहूं ठीक परी नाहीं. सो या पोथीमें चित्त बहोत है. परि भगवदिच्छासों मिले तब. सो तब मनोरथ सिद्ध होय. और हू श्रीबालकृष्णजी महाराजने ग्रन्थ बहोत करे हैं. सो पुस्तकालयमें हैं. और श्रीभागवतकी पाठ करिवेकी पुस्तक है. सो डोलतिवारीमें बिराजत है. सो जामें सोधन अपने श्रीहस्तको है. और श्रीबालकृष्णजी महाराजके ज्येष्ठपुत्र हैं सो श्रीद्वारकेशजीको...सों श्रीगुसांईजीने नाम केसरीरायजी धर्यो है... सो श्रीद्वारकेशजी महाराजने नामामृत ग्रन्थ कियो है. सो श्रीबलकृष्णजीके अष्टोत्तरशत नाम हैं. सो अति ही मनोहर है. सो ताको पाठ घरके बालक बहुबेटीनको तथा वैष्णवनको अवश्य करनो चाहिये. जो सर्वोत्तमवत् है, सो ताकी टीका हमने अमथाके पास मथुरामें लिखाई है... और श्रीकल्याणरायजीने हू अनेक वादके ग्रन्थ किये हैं. और श्रीहरिरायजीने तो आधुनिक जीवनके उपर बड़ी कृपा करी है. जो शिक्षापत्र प्रकट करे हैं. सो ताकी टीका श्रीहरिरायजीके भाई श्रीगोपेश्वरजीने

करी है. सो तासों सब जीवनको सुगमता भई. और श्रीबालकृष्णजीके चौथे लालजी श्रीपीताम्बरजीके वंशमें श्रीपुरुषोत्तमजी लेखवारे जाने हैं सो प्रसिद्ध है. सो विनने हू भाष्यपे प्रकाश कियो है. और अनेक ग्रन्थ वादके किये हैं. सो काशीमें दिग्विजय करिके सब पण्डितनकों जीते. सो सबनके पासतें विजयपत्र लियो. सो आप तो प्रबल पण्डित हते. और चांपासनीवारे श्रीविठ्ठलरायजी श्रीसुबोधिनीजीकी कथा बहोत सुन्दर कहिते. सो जामें सब कोऊ समुझे सो ऐसे आज्ञा करते. सो स्त्री तथा बालक तथा वृद्ध पर्यन्त सबको समुझावते. और गोस्वामी श्रीगोपीनाथजी हू बड़े पण्डित हते. सो कछु ग्रन्थ किये. सो तिनकी तो कछु खबरि नाहीं. और श्रीकाकाजी श्रीव्रजभूषणजीने श्रीबालकृष्णजीके सहस्रनाम कीये हैं. और श्रीव्रजाभरणजी दीक्षितजीने वादके ग्रन्थ तथा वल्लभाख्यानकी टीका करी है. जो अबके समयमें काशीवारे श्रीगिरिधरजी सरिखे पण्डित नहीं सुने हैं. सो तापर एक प्रसंग चल्यो, जो श्रीगोकुलनाथजीके टीकायत श्रीलक्ष्मणजी महाराज हते. सो रीवां गांव पधारे... सो राजा तो रामानुजाचार्य सम्प्रदायको सेवक हतो...पाछे रस्तामें रामानुजसम्प्रदायके दस बारह पण्डित बैठाये और महाराजकों पधरायवेकों आसामी पठायो. सो तब महाराज पधारे. सो तब तो सब पण्डितने रोके जो आप वाद करिके पधारो. सो तासों म्याना पाछो फिरायो. सो रीवां छोड़िके पधारे. सो तब तो यह बात काशीमें श्रीगिरिधरजीने सुनी. सो तब रामकृष्ण शास्त्रीको संग लेके शीघ्र रीवांको पधारे. सो रामकृष्ण शास्त्रीकों तो राजद्वारमें पठायो और कहेवाई जो जाको कछु पूछनो होय सो आयके पुछो. सो तब यह बात सुनिके राजा सब पण्डितनकों संग लेके आपके दर्शनको आयो... फेरि गिरिधरजी आज्ञा करी जो जाको जो प्रश्न करनो होय सो करो. सो तब पण्डितनने प्रश्न कर्यो जो तब सब पण्डितनको निरुत्तर कर दियो. सो तब राजाने विनती करी जो कृपानाथ! मोकों शरण लीजिये. सो तब आपने आज्ञा करी जो तुम तो वैष्णव ही हो. जो शरण लियेको शरण कहा लेंगें ? सो या सम्प्रदायमें और हमारी सम्प्रदायमें कछु भिन्नता नहीं है. सो यह कहिके समाधान कर्यो; और हमारे आयवेको कारण तो यह है जो आज पीछे श्रीगुसांईजीके बालक पधारे सो तिनसों ऐसो छल नहीं करनो. सो तब तो राजाने या बातको लेख करिके भेंट कर्यो. पाछें आप तो काशी पधारे. सो ऐसे आप प्रतापी हते. सो वादके अनेक ग्रन्थ...किये हैं... और नगरवारे श्रीबाबूरायजी सो आपकी कर्मकाण्डके उपर आछी रुचि हती. और छोटे भाई श्रीव्रजवल्लभजी सो पण्डित तो कछुक हते जो प्राचीन वार्ताकी बहोत खबरि हती. सो हमारे गुरुदेव श्रीद्वारकेशजी महाराज दादाजीने हू पुष्टिमार्गके ग्रन्थ, पाठ

तथा वादके बहोत किये हैं. सो श्रीवल्लभाख्यानकी सोध करिके श्रीगुसांईजीके सहस्रनाम कड़वानमें किये हैं. और श्रीसर्वोत्तमजीको नाम उद्धार हू कर्यो है. जो सुबेधिनीजीको अवगाहन अष्टप्रहर रहतो. लीलामें प्रवेश होते तांई पुस्तक हस्तमें रही. सो चारों वेदमें आप अत्यन्त प्रवीण हते. सो अद्यापि बिराजते तहां तांई सब देख्यो करते. और लौकिक वार्ता प्राचीनकी बहोत खबरि हती. सो सबनसों

कृपाकरिके कहते. और सेवामें दोऊ बेर नहाते. जो स्नान करते, जो आल एकक्षण हू नहीं. सो ऐसे जाके भाग्यमें होयगो तैसेई करेगो. ओर श्रीविठ्ठलेशरायजीवारे श्रीगोपेश्वरजी महाराज अलौकिक दर्शन देते. और वेदान्तके भाष्य उपर रश्मि टीका किये हैं. सो तामें अक्षर बहोत झीने लिखे हैं. सो वह पोथी बांधे पीछे खोली नहीं; और श्रीसुबेधिनीजी आप बांचते सो कोऊ पण्डित होतो तो समझतो और वैष्णवनकों तो श्रवणमंगल हतो. सो अष्टप्रहर अलौकिकमें मग्न रहते. जो लौकिक प्रपञ्चादिककी खबरि नहीं. सो ऐसे अलौकिक स्वरूप हते. सो ऐसे हमारे काकाजी श्रीव्रजपालजी महाराज कामवनवारे श्रीमदनमोहनजीके टीकैत सो अत्यन्त लीला दिखावे हैं. और श्रीमदनमोहनजीकी सेवामें अष्टप्रहर रहे हैं...हमारे यहांकी प्राचीन वार्ताकी बहोत खबरि हती. सो सुनिके बहोत चित्त प्रसन्न भयो. परि विसेष रहिवेको अवकास न हतो, सो तासों सुनिवेको चित्त रहि गयो. और कोटावारे श्रीमथुरेशजीके टीकायत श्रीविठ्ठलनाथजी...सोऊ बड़े पण्डित. अबके बारेमें और सब बालक बिराजे हैं, सो तिनमें तो पण्डित आप ही हैं... सो श्रीमथुराधीशजीकी सेवामें आप तथा आपके लालजी श्रीरणछोड़लालजी बहोत निपुण हैं. और आप तो पण्डित बहोत हैं परि पण्डिताईको आप गुप्त राखत हैं. सो तासों पण्डित प्रसिद्ध थोरे दीखत हैं. और श्रीचन्द्रमाजीके टीकैत श्रीगोविन्दरायजी, सो इनको शास्त्रको परिचय तो थोरो, परि पोथीको शोख बहोत है. सो निरन्तर पोथी देख्यो करते. सो तातें निजसेवकनको पुष्टिमार्गकी रीतिसों शिक्षा आछी रीतिसों करे हैं. और श्रीनटवरजीवारे गोस्वामी श्रीकाकाजी श्रीव्रजरायजी सो उनने श्रीवल्लभाख्यानकी टीका संस्कृतमें तथा दानलीला ''गोवर्धनकी शिखरतें मोहन दीनी टेर'' सो याकी टीका संस्कृतमें करी है. सो संस्कृतको अभ्यास हू आछो है. सो श्रीनटवरजीकी सेवामें तत्पर और गोस्वामी बालक श्रीजीवनलालजी बम्बईवारे, बालकृष्णचम्पू ग्रन्थ आछो कर्यो है सो तामें पदनकी ललितता बहोत सुन्दर धरी है; और कवितालंकारके साहित्यमें आप बहोत निपुन हैं. और श्रीवल्लभाख्यानकी टीका भाषामें करी है; और श्रीबालकृष्णजीकी सेवामें निपुन

हैं. और गोस्वामी श्रीगोपिकालंकारजी उपनाम श्रीमट्ठुलालजी सो श्रीदाऊजीके अष्टोत्तरशतनाम कहे हैं सो ताकी टीकाकी आज्ञा हमको भई है. सो सावकाससों होयगी. और आप श्रीमदनमोहनजीकी सेवा बहोत स्नेहपूर्वक करे हैं. सो आभरनसों तथा सामग्रीसों लाड़ लड़ावे हैं. तथा सांझकों दोऊ बिरियांकी सेवासों पहोंचिके कथा नित्यनियमपूर्वक करनी. सो तामें अलौकिक आनन्द आवे है जाके भाग्यमें होय सो सुने हैं और समुझे हैं. और गोस्वामी श्रीदादाजी श्रीगोकुलाधीशजी, व्याकरणमें बहोत समझे हैं, परि प्रकट नहीं करे हैं. जो अद्‌भुतलीला दिखावे हैं परि प्रकट नहीं करे हैं. सो अगारि बालकनमें वार्ता तथा सेवामें निपुनताई सेवा प्रीतिपूर्वक करनी. जो हमको याद हती ***सो लिखाये. सो ऐसे तो श्रीमहाप्रभुजीको कुल एकसार है और अब तो श्रीगोवर्धनधरकी लीला ऐसी है: ''लीला लाल गोवर्धनधरकी''. सो कोउ बालकमें विद्याकी तथा विद्याध्ययन तथा सेवा विसे शिथिलता दीसे है. सो ईश्वर हू कालको ग्रहण न करे तो और कौन करे ! सो तासों कलियुगको सन्मान राख्यो है. श्रीमदाचार्यजीकी कहा इच्छा है ? सो जानि नहीं परत है. सो तातें यह मार्ग तो आपकी इच्छानुसार है. जो अभी हमारे कृत्य देखते तो एक दिना हू न निभती. जो नित्यनियम है सो नित्य भोजन करे हैं; और नित्य गपौड़ा मारे हैं, जो नित्य चैन उठावे हैं. सो यह हमारे चरित्र हैं, सो पलंगड़ीवारे ही पार लगायेंगें. क्यों, जो निजवंशमें जन्म लियो है सो ताको पक्को भरोसो है. और अपने मतके ग्रन्थ बहोत हैं जो वाद तथा पाठ के. बड़ेनने काहू बातकी कसर नाहीं राखी है सो अत्यन्त संग्रह करिके परिश्रम कियो है. परि लोगनकी बड़ी कसरि है. सो वासों अहर्निश चिन्ता रहि आवे है.*** *और पुलबन्दर (पोरबन्दर)वारे श्रीशोभाबहुजी बड़े प्रतापी भये हैं. सो जिनने श्रीसुबेधिनीजी अनुसार श्रीभागवतके द्वादश स्कन्धपर्यन्त धोल १६ करे हैं. सो जामें सबनकों बोध होय. सो सुन्दर राग, न्यारे न्यारे ढाल सहित अर्थप्रकरन न्यारे न्यारे बताये हैं; तथा श्रीठाकुरजी तथा श्रीस्वामिनीजी तथा श्रीमहाप्रभुजी तथा श्रीगुसांईजी के प्राकट्यके धोल बधाई तथा कीर्तन तथा सांझीके कीर्तन विगेरे किये हैं. सो जामें हरिदास नाम छाप धरी है. जो हरिरायजीको ब्रह्मसम्बन्ध कर्यो हतो. सो तासों हरिदास नामकी छाप धरी है. सो तासों यह बहुजी नमनयोग्य हैं. सो जिनपे श्रीमहाप्रभुजीकी पूर्ण कृपा हती.*

।। इति श्रीगिरिधरलालजी महाराजको तीसमों वचनामृत समाप्तम् ।।